CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Dynamic RELIGIOUS SERIES

कपिल मुनि का

सांख्य दर्शन

सत्यार्थ सूत्र

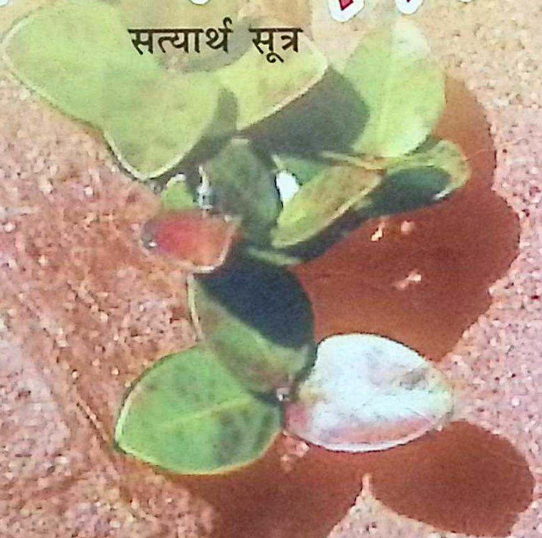

DYNAMIC
Read Dynamic !
To Be Dynamic !!

"जीवन के नैसर्गिक तथ्यों व सत्यों को उद्घाटित करती अमूल्य कृति"

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सांख्य दर्शन

सच पूछा जाए तो यह एक द्वैतवादी दर्शन है। इसके अनुसार विश्व प्रपंच के प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्व हैं। पुरुष चेतन तत्व है प्रकृति जड़। इसके अनुसार जगत का उपादान तत्व प्रकृति है। सत्व, रज और तम आदि तीन गुण उसके अभिन्न अंग हैं। जब इन तीनों गुणों की साम्यावस्था भंग हो जाती है और उसके गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है तब सृष्टि का आरंभ होता है। प्रथमतः महतत्त्व, अहंकार और पंच तन्मात्राओं को मिलाकर सात तत्व उत्पन्न होते हैं। अहंकार का गुणों के साथ संयोग होने से ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन तथा आकाश इन पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है।

DYNAMIC

रत्न पुस्तक भण्डार
"ग्रीन हाउस"
२७१, मानभवन
काठमाडौं, नेपाल
फोन : ६-२६०८५०

Read Dynamic !
To Be Dynamic !!

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

DYNAMIC Religious Series

सांख्य दर्शन

भाष्यकार
पंडित तुलसी राम
संशोधक तथा संपादक
सत्यार्थ सूत्र

DYNAMIC
डायनेमिक पब्लिकेशंस (इण्डिया) लि०
11, शिवाजी मार्ग, मेरठ (उ.प्र.)

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Dynamic Religious Series

सांख्य दर्शन

© प्रकाशकाधीन

Code No. : Q 9-1
ISBN-81-7933-071-0

सत्यार्थ सूत्र

Price : **Rs.60.00**

Published by : S.K. Rastogi for KRISHNA PRAKASHAN MEDIA (P) LTD.
11, Shivaji Road Meerut. Pin : 250001 (U.P.)
Ph : 0121-2642946, 2644766, Fax : 0121-2645855
E-mail : sk_kpm@yahoo.com

Type Setting by : P.M. Books, Meerut 0121-2531788

Cover Designed by : Zius Graphic Arts, Meerut. 0121-2510493

Printed at : Chawla Offset Printers, Meerut. 0121-2650274, 2661646

Cover Printed at : Dharmesh Art Process, Delhi. 011-25708762, 25708662

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निहितार्थ

न्याय दर्शन और योग दर्शन के भाषानुवाद और भाष्य करने के पश्चात् यह विचार कर कि लोग सांख्य दर्शन को अनीश्वरवादी बताते हैं, इसलिये इस दर्शन पर भी अन्य दर्शनों से अविरोध दिखाते हुये भाष्य लिखने की आवश्यकता है, मैंने इस सांख्य दर्शन का भाष्यारंभ किया।

पाठक इसको आद्योपान्त पढ़ जायें तब भी किसी सूत्र में अन्य दर्शनों से विरोध नहीं पायेंगे। ईश्वर के अस्तित्व का विरोध भी नहीं किया गया है। इस भाष्य के बनाने में जो सहायता विज्ञानभिक्षु, महादेववेदान्ती इत्यादि मुझसे पहले भाष्य और वृत्ति बनाने वालों से मिलती है, उनका मैं कृतज्ञ हूं। भले ही मैंने इन भाष्यकारों की सम्मति बहुत स्थानों पर नहीं मानी है तथापि इनके सहारे से मूल के समझने में बहुत सहायता मिली है।

सांख्य दर्शन में 6 अध्याय रखे गये हैं जिनमें सूत्रों को व्याख्यायित किया गय है। अंत में मैं इस भाष्य को परम पूज्य कपिल मुनि के श्री चरणों में समर्पित करता हूं जिन्होंने जीवन ऊर्जा के लिए सांख्य दर्शन के स्वर्णिम सूत्रों का सृजन किया।

इस भाष्य को जन-जन तक पहुंचाने के लिए मैं डायनेमिक पब्लिकेशंस (इण्डिया) लि. के प्रबंध निदेशक **श्रीयुत सत्येंद्र कुमार रस्तौगी** जी का हृदय से आभारी हूं जिन्होंने इस महत्वपूर्ण विषय पर पुस्तक छापकर हमें उपकृत किया।

उभयतः शुभमस्तु

सत्यार्थ सूत्र
ssutra@indiatimes.com

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

समर्पण

परम पूज्य 'कपिल मुनि' के श्री चरणों में,
जिन्होंने जीवन ऊर्जा के लिए सांख्य
दर्शन के स्वर्णिम सूत्रों का सृजन किया।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनुक्रम

- प्रथम अध्याय (1-56)
- द्वितीय अध्याय (57-76)
- तृतीय अध्याय (77-106)
- चतुर्थ अध्याय (107-119)
- पंचम अध्याय (121-165)
- षष्ठं अध्याय (167-207)

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ
प्रथमाऽध्यायः

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरूषार्थः ॥१॥ (१)

अब से त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति- परमपुरूषार्थ (का वर्णन है)।। अथ शब्द सांख्य दर्शन के इस ६ अध्याय समुदाय रूप पुस्तकमात्र में अधिकारार्थ है, अर्थात् यहां से ग्रन्थ समाप्ति तक जो वर्णन है वह सब साक्षात् या परम्परा से त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप परम पुरूषार्थ का ही व्याख्यान है। १-जो आत्मा- अन्तःकरण मात्र में हों वे आध्यात्मिक काम, क्रोधादि हैं। २- जो भूतों अर्थात् सिंह, व्याघ्र, चोरादि प्राणियों से दुःखी हों वे आदिभौतिक हैं। ३- जो अग्नि, वायु, बिजली आदि देवों से उत्पन्न दुःखों में समस्त दुःख हैं, वे आधिदैविक कहलाते हैं। इन तीनों प्रकार के दुःखों में समस्त दुःख आ जाते हैं। इनका अत्यन्त निवृत्त करना अत्यन्त पुरूषार्थ- सबसे बड़ा यत्न है। संसार के क्षण भंगुर भोगों के लिये जो पुरूषार्थ किये जाते हैं वे पुरूषार्थ हैं, परन्तु अत्यन्त पुरूषार्थ या परम पुरूषार्थ या सबसे बड़ा यत्न नहीं है।

यदि कहो कि इस शास्त्र के द्वारा अति सूक्ष्म प्रकृति पुरूष के विवेक की क्या आवश्यकता है? तीनों प्रकार के दुःख तो भोजन पान, औषध सेवनादि से ही निवृत्त हो सकते हैं। उत्तर-

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृतेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्॥२॥ (२)

दृष्ट= (भोजन पानादि) से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि दुःख निवृत्त होकर भी फिर आते देखे जाते हैं।।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मनुष्य के आध्यात्मिकादि तीन प्रकार के दु:खों की निवृत्ति रूपसिद्धि सांसारिक दृष्ट पदार्थों से नहीं हो सकती, क्योंकि उनसे दु:ख की अनुवृत्ति देखते हैं। कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य को क्षुधारूप दु:ख है, उसकी निवृत्ति के लिये दोपहर के 12 बजे 8 छटांक (1 छटांक-60 ग्राम) भोजन करता है और सायंकाल के 8 बजे दूसरी बार क्षुधा लगती है। उसकी निवृत्ति के लिये फिर 8 छटांक भोजन करता है। ऐसा ही नित्य किया करता है। अब विचारना चाहिए क्या उस की क्षुधा 12 बजे से 8 बजे तक 8 घंटे के लिये निवृत्त हो जाती है? कदापि नहीं। क्या उसको सायंकाल के 7 बजकर 59 मिनट तक क्षुधा न थी? अवश्य थी, अच्छा क्या 6 बजे क्षुधा न थी? अवश्य थी। किन्तु इससे पूर्व न थी? नहीं, 2 कुछ न कुछ अवश्य थी, किन्तु वह 8 छटांक की क्षुधा जो सांयकाल 8 बजे पूरी क्षुधा हुई है, वह 4 बजे भी चार छटांक की क्षुधा अवश्य थी। वह क्रमश: एक 2 घंटे में एक 2 छटांक बढ़ती आई और बढ़ते 2 ठीक आठ बजे पुन: पूर्ववत् पूरी 8 छटांक मांगने लगी। इतना ही नहीं, किन्तु वह 1 घंटे के 60वें भाग=एक मिनट में 1 छटांक का 60वां भाग क्षुधा की अवश्य थी। मानों जिस समय तृप्त होकर दोपहर को उठे थे, उसी समय वह पिशाचनी क्षुधा साथ-2 फिरती और बढ़ती जाती थी। इसी प्रकार अन्य किसी दृष्ट पदार्थ से भी दु:ख की सर्वथा निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि सांसारिक समस्त साधन जिनसे हम दु:ख की निवृत्ति और स्थिर सुख की प्राप्ति की इच्छा करते हैं और इसी प्रयोजन से अनेक प्रकार के कष्ट सहकर भी उनके उपार्जन की चेष्टा करते हैं, वे सब स्वयं ही स्थिर नहीं, किन्तु प्रति क्षण नाशोन्मुख दौड़े जाते हैं। तब हमें क्या सुख दे सकते हैं? इस लिये दृष्टोपायों से दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती ॥ 2 ॥

यद्यपि-

प्रात्यहिकक्षुत्प्रतीकारवत्तत्तीकारचेष्टनात्पुरूषार्थत्वम्॥

॥३॥ (३)

प्रतिदिन की क्षुधा के प्रतीकार (इलाज) के समान उन (विविध दु:खों) के प्रतीकार की चेष्टा करने से (दृष्ट उपायों को) पुरूषार्थत्व है। परन्तु-

सर्वाऽसंभवात्संभवेऽपि सत्तासंभवाद्धेय:- प्रमाणकुशलै: ॥४॥ (४)

जैसे क्षुधा की निवृत्ति भोजन से हो जाती है, वैसे प्रथम तो सब दु:खों की

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निवृत्ति संभव नहीं, यदि संभव भी हो तो भी सत्तामात्र रह जाने से प्रमाण कुशल चतुरों को (यह दृष्ट उपाय) त्यागने योग्य है।

साधारण लोग भोजन में क्षुधा हटाने के समान अन्य दृष्ट उपाय औषध, प्रयोगादि करते हैं। सो करो, परन्तु प्रमाण-चतुर विवेकी पुरूषों को यह पुरूषार्थ, जो सूत्र 3 में कहा है, त्याज्य है। उनको तो अत्यन्त पुरूषार्थ या परम पुरूषार्थ ही करना चाहिये, क्योंकि (सर्वाऽसंभवात्) सब दुखों की निवृत्ति के सब उपाय असंभव हैं, हो नहीं सकते, क्योंकि असाध्य अवस्था भी आ जाती हैं और (संभवेऽपि) यदि हो भी सकें तो भी दुःखों की (सत्तां-सम्भवात्) सत्ता का संभव ही रहेगा। अतः यह लौकिक दृष्ट उपाय उस अलौकिक सांख्य शास्त्रीय प्रकृति पुरूष के विवेक ज्ञान रूप उपाय के सामने मानने योग्य नहीं हैं, त्यागने ही योग्य है।

दृष्टेपाय की त्याज्यता में एक नया हेतु देते हैं कि-

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥ ५॥ (५)

क्योंकि मोक्ष को सबसे उत्तम सुना जाता है अतः उत्तमता से भी (प्रमाण चतुरों को दृष्ट उपाय त्याज्य हैं)॥

यदि मनुष्य को दो उपाय या दो फल दिखते हैं, तो उत्तम उपाय और उत्तम से उत्तम फल के लिए यत्न करना बुद्धिमानी का काम है, बस जब मोक्ष सबसे उत्तम फल है तो विवेकी और चतुर पुरूष को दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति के लिये साधारण पुरूषार्थ नहीं, किन्तु अत्यन्त पुरूषार्थ या परमपुरूषार्थ ही कर्तव्य है।

अविशेषश्चोभ्योः ॥ ६॥ (६)

दोनों में कोई विशेष नहीं।

यह एक ऐसा सूत्र है, जिसमें सब ही टीका या भाष्यकारों को अध्याहार करना पड़ा है और यह दो प्रकार से किया है। दोनों में विशेष नहीं इस में यह जानना सब कोई चाहेगा कि किन दोनों में विशेष नहीं? इस पर विज्ञानभिक्षु, स्वामी हरिप्रसाद जी, कारिकाकार ईश्वर कृष्ण के भाष्यकार गौड़पादाचार्य इत्यादि अनेक लोगों का मत तो यह है कि-

1 दृष्ट=भोजन पथ्य औषध सेवनादि, 2 अदृष्ट=वैदिक

❖ छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक 8 खण्ड 12 । में यह श्रुति है कि 'न ह वै स शरीरस्य सतः प्रियोऽप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वावे सन्त न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः'= निश्चय शरीर रहित हुए (मुक्तजीव को) सुख-दुःख नहीं छूते और वृहदारण्यक अ0 6 ब्राह्मण 3-32 में लिखा है कि एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपत्=यह इस (जीव) की सबसे बढ़कर गति और यह इसकी सबसे बढ़िया संपत्ति है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यज्ञादि कर्मकाण्ड भेद से लौकिक, वैदिक दोनों प्रकार के कर्म या पुरुषार्थ मोक्ष के साधक नहीं और दोनों इस मोक्ष के प्रति साधारण एक से हैं, उनमें कोई विशेष नहीं, अतः प्रकृति और पुरुष का विशेष विवेक ज्ञान ही मोक्ष का साधन या परम पुरुषार्थ है।

बात ठीक भी है क्योंकि काम्य या सकाम वैदिक कर्मों का अनुष्ठान भी सांसारिक सुख भोगदायक रहे, परन्तु मोक्षदायक नहीं, मोक्षदायक तो केवल आत्मज्ञान है, ऐसा वेदों और न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, योग इत्यादि सब वैदिक दर्शनों का सिद्धान्त है। किन्तु एक महादेव वेदान्ती जी अपनी वृत्ति में ये कहते हैं कि-

"जिसको हटा कर मोक्ष प्राप्ति के लिए शास्त्र की प्रवृत्ति है, वह बन्ध स्वाभाविक हो या नैमित्तिक दोनों दशा में मोक्ष तो उत्कृष्ट अर्थात् श्रेष्ठ है, उसके लिये परम पुरुषार्थ करना ही चाहिये।

इस महाशय ने अगले सूत्र 7 में जो नस्वभावतोबद्धस्य इत्यादि पक्ष कहे जायेंगे उनका अध्याहार किया है सो भी अयुक्त नहीं।

तीसरा अध्याहार यह भी हो सकता है कि सूत्र 4 के अनुसार सम्भव-असम्भव दोनों में विशेष नहीं। क्योंकि जैसे दृष्टोपायों से सर्व दुःख निवृत्ति को असम्भव मानने पर परम पुरुषार्थ कर्त्तव्य रह जाता है, वैसे ही सम्भव मानने पर भी सत्तासम्भव से परम पुरुषार्थ कर्त्तव्य रहता है। परम पुरुषार्थ की कर्त्तव्यता दोनों दशाओं में समान होने से विशेष कुछ नहीं।

अब बन्ध के स्वाभाविक मानने में दोष देते हैं:-

न स्वभावतोवद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ॥७॥ (७)

स्वभाव से बद्ध (पुरुष) को मोक्ष के साधन का उपदेश विधान नहीं हो सकता। क्योंकि-

स्वभावस्योनपायित्वादननुष्ठनलक्षणमप्रामाणयम्॥८॥ (८)

स्वभाव के नाशरहित होने से (उस पर) अनुष्ठान न हो सकना रूप अप्रामान्य है।

जब स्वभाव का नाश नहीं जो सकता तो स्वाभाविक बद्ध जीव कभी मुक्त न हो सकेगा तो कोई जीव भी इस दशा में मोक्ष के साधनों का अनुष्ठान (अमल)

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न कर सकेगा। जब अनुष्ठान न हो सकेगा तो जो शास्त्र अनुष्ठान का उपदेश करता है, वह शास्त्र प्रामाणिक नहीं बल्कि व्यर्थ है।

यदि कहो कि कोई अनुष्ठान न करो, पर शास्त्र तो सुझा दे तो उत्तर यह है कि-

नाऽशक्योपदेषविधिरुपदिष्टेप्यनुपदेशः ॥९॥ (९)

अशक्य के लिये उपदेश करना ठीक नहीं, (क्योंकि) उपदेश किया भी अनुपदेश है।

जो बात हो न सके उसके लिये उपदेश करना, न करने के बराबर होने से व्यर्थ है। शंका-

शुक्लपटवद्बीजवच्चेत॥१०॥ (१०)

यदि श्वेत वस्त्र और बीज के तुल्य (कहो)

अर्थात् यदि कहो कि जैसे स्वाभाविक श्वेत वस्त्र भी रंगने से श्वेत नहीं रहता, और जैसे बीज की स्वाभाविक भी अंकुर उपजने की शक्ति ऊपर भूमि में बोने से नहीं रहती, ऐसे ही स्वाभाविक बन्धन भी शास्त्रोपदेशानुकूल अनुष्ठान से नष्ट होकर मोक्ष हो सकेगा। तो उत्तर यह है कि-

शक्त युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ॥११॥ (११)

शक्ति के प्रादुर्भाव तिरोभाव से अशक्योपदेश नहीं।

श्वेत वस्त्र की श्वेतता रंग देने से केवल ढक जाती या छिप जाती या तिरोभूत हो जाती है, नष्ट नहीं हो जाती, इसलिये धोबी बहुत यत्न करे तो रंग छूट कर फिर प्रकट हो जाते हैं। ऐसे ही अंकुर उत्पन्न करने की बीजस्थ शक्ति भी ऊपर (बिना उपजाऊ) भूमि में स्थित आवरणों से ढक कर छिप कर या तिरोभूत होकर प्रतीत नहीं होती, किन्तु ऊपर भूमिस्थ आवरण दोषों को दूर कर दें तो वही शक्ति प्रकट हो सकती है। इसलिये यह अशक्तियोपदेश नहीं।

अन्य सब टीकाकार बीजवत् का व्याख्यान यह करते हैं कि जैसे बीज को अग्नि में फूंक देने से उस की स्वाभाविक भी अंकुरोत्पादन शक्ति नष्ट हो जाती है और 11 वें समाधान सूत्र के द्वारा समाधान करते हैं कि योगी के संकल्प से जैसे फुंके हुए बीज की भी शक्ति पुनः अंकुर उत्पन्न कर सकती है इसलिये स्वाभाविक का नाश नहीं केवल तिरोभावमात्र है।

यह व्याख्या यद्यपि विज्ञानभिक्षु भाष्यकार, महादेव वेदान्ती, वृत्तिकार इत्यादि प्राचीन-नवीन सभी टीकाकार करते हैं, परंतु हमें फिर भी नहीं भाती। क्योंकि जिस प्रकार वस्त्र की श्वेनता जो रंग से दब गई है, वह तब तक ही उजला कर फिर

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकट हो सकती है, जब तक वस्त्र रहे, वस्त्र ही न रहे तो श्वेतता उसकी कहां रहे? इसी प्रकार अग्नि में फूंक देने से बीज ही नहीं रहता फिर उस की अंकुरोत्पादन शक्ति का तिरोभाव मात्र किसमें माना जाए? यह ठीक है कि धर्म धर्मी में या गुण गुणी में प्रकट या छिपा रहता है परन्तु जब गुणी या धर्मी ही न रहे तब गुण या धर्म छिपा हुआ रहना मानना कैसा असंगत है, समझने की बात हैं सूत्र में बीजवत् शब्द, उसकी व्याख्या में अग्निदग्ध बीज को लक्ष्य करना कुछ आवश्यक भी नहीं। सम्भव असम्भव दो अर्थों में सम्भवाऽर्थ का ग्रहण करना ठीक है।

न कालयोगतोव्यापिनोनित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ॥ १२॥ (१२)

काल के संयोग से भी (बन्धन) नहीं हो सकता क्योंकि काल तो नित्य और व्यापी और सबसे सम्बन्ध रखता है।

यदि कहा जाए कि काल से बन्धन है सो भी नहीं, क्योंकि काल तो नित्य है, उसका बन्धन होता तो कभी कोई मुक्त न हो सकता, कालव्यापी है और सब से सम्बन्ध रखता है, बद्ध से भी और मुक्त से भी।

न देशयोगतोऽप्यस्मात्॥१३॥ (१३)

इसी हेतु से देश के योग से भी (बन्धन) नहीं बनता।

क्योंकि बद्ध और मुक्त सभी देश में रहते हैं, देश भी काल के समान नित्य और व्यापी होने से सम्बन्ध रखता है।

ना वस्थातोदेहधर्मत्वात्तस्याः ॥१४॥ (१४)

अवस्था से भी (बन्ध) नहीं, क्योंकि वह (अवस्था) देह का धर्म है (पुरुष का नहीं)।

बाल्य, यौवन, वृद्धता आदि या स्थूलत्व कृशत्वादि अवस्थाओं में बन्धन इस कारण नहीं हो सकता कि ये तो देह के धर्म हैं न कि आत्मा या पुरुष के। क्योंकि–

असंगोऽयं पुरुष इति॥१५॥ (१५)

यह पुरुष तो संगत रहित है।

संग वाले पदार्थों की अवस्था बदलती है क्योंकि उनमें कभी कुछ जुड़ जाता है, कभी कुछ उन से निकल जाता है। उसी उपचय अपचय से अवस्थाएं होती हैं। पुरुष तो उपचयाऽपवयरहित असंग है, अतः उसकी कोई अवस्था नहीं, जब अवस्था ही नहीं तो अवस्थाकृत बन्धन क्यों कर सम्भव हो।

न कर्मणाऽन्यधर्मत्वादतिप्रभुक्तेश्च॥१६॥ (१६)

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कर्म से (भी बन्धन) नहीं, क्योंकि (कर्म) अन्य धर्म है और अति प्रसंग दोष भी होगा।

कर्म से बन्धन माने तो भी ठीक नहीं, क्योंकि कर्म तो अन्य का धर्म है, अर्थात् देह का धर्म है, आत्मा का नहीं, जो अन्य के कर्म से अन्य का बन्धन माने तो अति प्रसंग दोष होगा अर्थात् वृद्धों के कर्मों से मुक्तों को भी बन्धन आदि अव्यवस्था होगी, अतएव कर्म को भी बन्ध का हेतु नहीं कह सकते।

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ॥१७॥ (१७)

अन्य धर्म मानने में विचित्र भोगों की सिद्धि नहीं बनती।

जब अपने-अपने कर्मानुसार फल न मानकर किसी के कर्म से किसी को भी फल भोग हो तो सबको एक से ही भोग क्यों न मिल जाएं? अपने-अपने कर्मानुसार भोग होने में तो न्याय है पर अन्य के कर्म से फल अन्य को भोगाया जाए तो न्यायानुसार सब को एक सा भाग होना चाहिए। पर हम देखते हैं कि सबका एकसा फल भोग नहीं, विचित्र अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार का भोग अन्य धर्म मानने में बन नहीं सकता।

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न, तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ॥१८॥ (१८)

यदि प्रकृति के बन्धन से (जीव= पुरुष को बन्धन कहें तो भी) नहीं, क्योंकि उस (प्रकृति) को भी परतन्त्रता है।

पुरुष स्वतन्त्र और प्रकृति परतन्त्र है इसलिये परतन्त्र प्रकृति से स्वतन्त्र पुरुष क्यों बन्धे।

न नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगास्तद्योगादृते ॥१९॥ (१९)

नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव (पुरुष) को उस (बन्ध) का योग नहीं हो सकता, बिना उस (प्रकृति) संबन्ध के।

पुरुष तो स्वभाव से 'शुद्ध' है उसमें सत्व, रज, तम कोई गुण नहीं। गुण प्रकृति में हैं। वह तो स्वरूप से 'बुद्ध' है क्योंकि चेतन है, जड़ तो प्रकृति में है। वह स्वरूप से मुक्त है, क्योंकि केवल पुरुष ही पुरुष हो तो बन्धन संभव नहीं, ऐसे पुरुष को बिना प्रकृति का योग हुए बन्ध का योग हो नहीं सकता। पूर्व सूत्र में जो प्रकृति को परतन्त्र कहा था सो ठीक है, परन्तु अविवेक से अल्पज्ञ पुरुष प्रकृति के बन्धन में पड़ जाता है और इस प्रकार पुरुष को प्रकृति के कार्य महत् अहंकारादि की उपाधि घेर लेती है और यह घिर जाना है, तब इसके देहादि

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपाधि वाला औपाधिक बन्धन हो जाता है। जिसकी निवृत्ति के लिये शास्त्र द्वारा अविवेक को विवेक से हटाकर पुनः मुक्ति का यत्न करना आवश्यक है।

यदि कहो कि इस सूत्र में तो अविवेक शब्द नहीं, फिर अविवेक से प्रकृति के योग का अर्थ क्यों किया गया? उत्तर यह है कि बिना अविवेक के परतन्त्र प्रकृति से स्वतन्त्र पुरुष का बंधन सम्भव नहीं, इसलिये हमने अविवेक शब्द आचार्य के तात्पर्य की पूर्त्यर्थ बढ़ाया है, आचार्य का तात्पर्य आगे इसी अध्याय के 55 वें सूत्र में आचार्य ने अपने शब्दों में स्वयं भी बताया है कि 'तद्योगोऽप्यविवेकान्नसमानत्वम्' 155 जिसमें स्पष्ट 'अविवेकात्' शब्द है।

नाऽविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ॥२०॥ (२०)

अविद्या से भी (बन्धन) नहीं क्योंकि अवस्तु से बन्धन सम्भव नहीं।

विद्या वस्तु है, अविद्या कोई वस्तु नहीं, अविद्या तो विद्या का न होना मात्र है। जब अविद्या कोई वस्तु नहीं अवस्तु है तो अवस्तु अविद्या से कोई बन्धन नहीं हो सकता ।। और-

स्तुत्वे सिद्धान्तहांनिः ॥२१॥ (२१)

वस्तु हो तो सिद्धान्त की हानि है।

यदि अविद्या को वस्तु माना जाए तो सिद्धान्त की हानि है, क्योंकि अविद्या का वस्तु न होना सिद्धान्त है।

विजातीयद्वैतापत्तिश्च ॥ २२॥ (२२)

और विजातीय द्वैत की आपत्ति भी है।

यदि अविद्या को वस्तु मान लें तो एक ही चेतन सत्ता से भिन्न दूसरी चेतना सत्ता अविद्या हो गई, इस कारण द्वैत दोष आया और द्वैत भी कैसा कि विजातीय, सजातीय द्वैत तो पुरुषों की असंख्यता से मान ही सकते हैं, परन्तु अविद्या को वस्तु मानने से विजातीय द्वैत मानना पड़ेगा जो कि चेतन का विजातीय द्वैत तुमको इष्ट नहीं है।

यद्यपि सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा वेदानुकूल सब छहों दर्शनों का मत है कि अविवेक से बन्धन है और अविद्या=अविवेक एक है, और यहां उनके मतकनराकरण किया है, जो विज्ञानमात्र एक ही पदार्थ मानते हैं। इन लोगों के मत में अन्य कोई विजातीय पदार्थ ही नहीं है, न पुरुष है। इस सूत्र से एक प्रकार से मायावाद का भी खण्डन है, जिसको विज्ञानभिक्षु भी लिखते हैं कि-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यत्तु वेदान्तिब्रुवाणामाधुनिकस्य मायावादस्याऽत्र लिंग दृश्यते तत्तेषामपि विज्ञानवाद्येकदेशितया युक्तमेव

''मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि! कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥''

इत्यादि पद्मपुराणस्थशिववाक्यपरम्पराभ्यः। न तु तद्वेदान्मतम्

''वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्।''

इति तद्वाक्यशेषादिति। मायावादिनोऽत्र च न साक्षात् प्रतिवादित्वं विजातीयेतिविशेषणवैयर्थ्यात् माया वादे सजातीयाऽद्वैतस्याडप्यऽनभ्युपगमादिति। तस्मादत्र प्रकरणे विज्ञानवादिनां बन्धहेतुव्यवस्थेव साक्षान्निराक्रियते। अनयैव च रीत्या नवीनानामपि प्रच्छन्नबौद्धानां मायावादिनामविद्यामात्रस्य तुच्छस्य बन्धहेतुत्वं निराकृतं वेदितव्यम्! अस्मन्मते तु अविद्यायाः कूटस्थनित्यता रूपपारमार्थिकत्वाऽभावेऽपि घटादिवद्वास्तवत्वेन वक्ष्यमाण संयोगद्वारा बन्ध हेतुत्वे यथोक्तवाधाऽनवकाशः एवं योगमते ब्रह्ममीमांसामतेऽपीति ॥

अर्थ- जो कि अपने को वेदान्ती कहने वालों के आधुनिक मायावाद का चिह्न दिखता है वह उनका भी विज्ञानवादियों के एकदेशी होने से ठीक ही है-

मायावादमसच्छास्त्रम्०

'मायावाद असत् शास्त्र जो छिपा हुआ बौद्धमत ही है, सो हे देवी! कलियुग में ब्राह्मणरूपधारी मैंने ही वर्णन किया है' इत्यादि पद्मपुराण के शिव जी के वचनों की परम्पराओं से। परन्तु यह वास्तव में वेदान्त मत नहीं है। क्योंकि उसी पद्मपुराण में वाक्यशेष है कि ''वेदार्थ के समान महाशास्त्र मायावाद अवैदिक है। इस सूत्र में 'विजातीय' विशेषण की व्यर्थता से साक्षात् मायावादी को प्रतिवादीपना नहीं है, क्योंकि मायावाद में तो सजातीय द्वैत भी नहीं माना गया है। इस कारण इस प्रकरण में ''विज्ञानवादियों'' को बन्ध हेतु व्यवस्था का ही साक्षात् खण्डन है। और इसी रीति से छिपे बौद्धों= नवीन वेदान्तिब्रुवमायावादी लोगों के तुच्छ अविद्यामात्र को बन्धहेतुत्व का भी खण्डन किया समझिये और हमारे (विज्ञानभिक्षु के) मत में तो अविद्या के कूटस्थ नित्यता रूप पारमार्थिकत्व न होने पर भी घटादि के तुल्य वास्तवत्व से कहे जाने वाले संयोग द्वारा बन्धहेतु होने पर उक्त दोष को अवकाश नहीं। इसी प्रकार योगदर्शन और वेदान्तदर्शन के मत में भी (दोषाऽवकाश नहीं)। इन विज्ञानभिक्षु के भाष्य से जाना जाता है कि 'मायावादी आधुनिक नवीन' वेदान्तियों को जो 'स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाश' में नवीन वेदान्ती कहा है। वह कुछ स्वामी दयानन्द का नया आक्षेप नहीं, किन्तु विज्ञानभिक्षु

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सरीखे पूर्वज लोग भी इनको 'नवीन' बताते आते हैं तथा स्वामी दयानन्द ने जो 'नवीनों को पंचम कोटि का नास्तिक बताया है, यह बात भी नई नहीं, क्योंकि विज्ञानभिक्षु और पद्म पुराण भी इनको छिपा बौद्ध बताते हैं।

विरुद्धोभयरूपा चेत् ॥२३॥ (२३)

यदि उभयविरुद्ध रूप (अविद्या) है तो-

न, तादृक्पदार्थऽप्रतीतेः ॥२४॥ (२४)

नहीं, क्योंकि वैसा पदार्थ (कोई) प्रतीत नहीं होता।

अर्थात् यदि कोई अविद्या को वस्तु-अवस्तु दोनों प्रकार की या दोनों से विरुद्ध विलक्षण तीसरे प्रकार की मानकर बन्धहेतु सिद्ध करे, सो भी नहीं बनता क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ है ही नहीं जो वस्तु-अवस्तु दोनों विरूद्ध रूप वाला या दोनों से विरुद्ध तीसरे विलक्षण रूप वाला हो। यदि कहो कि-

न वय षट् पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ॥२५॥ (२५)

हम वैशेषिकादि के समान षट्पदार्थवादी नहीं हैं।

अर्थात् यदि कोई ऐसा पक्ष उठाए कि हम पदार्थो की नियत छः या सोलह संख्या नहीं मानते, जिससे अविद्या का 'सदसद्विलक्षणा' वा 'विरुद्धोभयारूपा' न मान सकें, फिर अविद्या के बन्धहेतुत्व में क्या बाधा है? तो उत्तर यह है कि-

अनियतत्वेऽपि नाऽयौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्त्तादिसमत्वम् ॥२६॥ (२६)

छः या सोलह इत्यादि नियत संख्या न होने पर भी अयौत्तिक संग्रह (स्वीकार) नहीं कर सकते, नहीं तो बालकों या उन्मत्तों के समान हो जायेंगे।

अर्थात् तुम वैशेषिक के समान 6 पदार्थो या गोतम के समान 16 पदार्थो की नियत संख्या न भी मानो तो भी युक्तियुक्त ही पदार्थ तो मानोगे अयौक्तिक तो नहीं मान सकते और किसी पदार्थ को वस्तु-अवस्तु दोनों से विलक्षण मानना अयौक्तिक है, युक्तिसंगत नहीं है इसलिये ''विरुद्धोभयरूपाचेत्'' सूत्र में कहीं शंका नहीं बन सकती। यदि अयौक्तिक बात भी मानी जाए तो बालकों और उन्मत्तों (पागलों) के समान वे लोग भी रहे, जो ऐसे अयौक्तिकवाद को स्वीकार करें।

ना ऽनादिविषयोपरागनिमित्ततोऽप्यस्य ॥२७॥ (२७)

अनादि विषय वासना से भी इस (जीव) को (बन्ध) नहीं हो सकता। क्योंकि-

न बाह्याऽभ्यतरयोरुपरंज्यो परंजकभावोऽपि देशव्यवधानात्, स्रु

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

घ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ॥२८॥ (२८)

न बाह्य और अभ्यन्तर का उपरंज्य उपरंजकभाव भी नहीं हो सकता, देश के व्यवधान से जैसे स्रुघ्न (आगरा) और पाटलिपुत्र (पटना) में स्थितों का।

पुरुष तो देह के भीतर रहा, विषय देह के बाहर रहे, तब इन दोनों में देश का व्यवधान (अन्तर) रहने से विषयों की वासना पुरुष को रंग नहीं सकती। जो रंग जाय, वह उपरंज्य और जिससे रंग जाये, उसको उपरंजक कहते हैं। जैसे स्फाटिकापीत के और रक्त पुष्प के बीच में व्यवधान न हो, तब स्फटिक पर रक्त पुष्प की रंगत पड़ती है, किन्तु जब दोनों में अन्तर हो, तब नहीं। जैसे एक स्फटिक पटना में हो और रक्त पुष्प आगरे में तो उस पुष्प की रंगत का आभास पटने के स्फटिक पर नहीं हो सकता है, क्योंकि देश का व्यवधान है। ऐसे पुरुष देह के भीतर और विषय देह के बाहर और बीच में देह का व्यवधान है, इस दशा में पुरुष उपरंज्य और विषय उपरंजक हो नहीं सकते। तब विषयों के अनादि उपराग से भी बन्ध नहीं हो सकता।

यदि कहो कि पुरुष भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है और इस कारण विषयों का उपराग उस पर हो सकता है। तो उत्तर यह है कि-

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्नव्यवस्था ॥२९॥ (२९)

दोनों के एक देश में लब्ध उपराग से व्यवस्था नहीं रहती।

यदि ऐसा हो तो देह के बाह्य विषयों का उपराग, जैसे बद्ध पुरुष के बन्ध का हेतु हो, वैसे मुक्त पुरुष के बन्ध का हेतु भी हो सकता है, तब बद्ध मुक्त दोनों में व्यवस्था नहीं रहती कि कौन बद्ध और कौन मुक्त है।

अदृष्टवशाच्चेत् ॥३०॥ (३०)

यदि अदृष्टवश से (व्यवस्था मानो तो) उत्तर-

नद्वयोरेककालाऽयोगादुपकार्येपिकारकभावाः ॥३१॥ (३१)

दोनों के एक काल में योग न होने से उपकार्य, उपकारक भाव नहीं हो सकता।

यदि कोई 30 सूत्रोक्त शंका करे कि अदृष्ट (प्रारब्ध) वश से देह के बाह्य विषयों का उपरागबद्ध पुरुष के समान भुक्त को नहीं हो सकता, तो 31 वां सूत्र कहता है कि कर्ता और भोक्ता पुरुष ये दोनों क्षणिकों के मत में एक कालीन नहीं, पूर्व क्षण में कर्ता (चित्त) उत्तरक्षणभावी भोक्ता से भिन्न है, तब दोनों (कर्ता भोक्ता) एक साथ न रहे, इस दशा में दोनों में उपकार्य-उपकारक भाव नहीं हो

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सकता। जिस पर उपकार हो, वह उपकार्य और जो उपकार करे वह उपकारक होता है। भला फिर जब कर्ता और भोक्ता एक काल में न हुए, भिन्न-भिन्न कालों में पूर्वा पर भेद से हुए तो पूर्वकालस्थ कर्ता के अदृष्ट प्रारब्ध का उपकार उत्तर कालस्थ भोक्ता पर कैसे हो सकता है? इसलिये अदृष्ट से भी व्यवस्था नहीं बनती।

पुत्रकर्मवदिति चेत् ॥३२॥ (३२)

यदि पुत्र के (गर्भाधानादि संस्कार। कर्म के तुल्य (कहो तो)-

अर्थात् यदि कोई कहे कि जैसे गर्भाधानादि संस्कारों से पुत्र का कर्म (संस्कार) पिता करता है और उससे पुत्र का उपकार होता है, यद्यपि पुत्र पश्चात काल में और पिता पूर्वकाल में है, ऐसे ही कर्ता-भोक्ता दोनों एक काल में न हों तो भी एक कर्ता दूसरे भोक्ता का उपकार कर सकता है, तो दोनों में उपकार्योपकारक भाव क्यों नहीं हो सकता? तो उत्तर यह है कि-

न, अस्ति हि तव स्थिर एकात्मायोगर्भाधानादिना संस्क्रियते ॥३२॥ (३२)

नहीं क्योंकि वहां (वैदिकमत में) एक स्थिर आत्मा (पुरुष) गर्भाधानादि से संस्कृत किया जाता है।

वैदिक लोग, जो संस्कारों से पुत्र का उपकार करते हैं, ये क्षणिकवादी नहीं है, वे तो पुत्र को एक स्थिर आदमी मानते हैं जोकि संस्कारों के प्रभाव से उपकृत किया जाता है, अतः उनका दृष्टान्त क्षणिकवादी को लाभदायक नहीं हो सकता ॥

दूसरा अन्वय यह है, जो पहले संस्कृत भाष्य और टीका करने वालों ने लगाया है कि (तत्र) वहां तुम क्षणिकों के मत में स्थिर एक आत्मा नहीं है जो गर्भाधानादि संस्कारों से संस्कृत किया जाए। इससे उन के मत में पुत्र संस्कारकर्म भी नहीं बनता फिर वे उसका दृष्टान्त देकर क्या लाभ उठा सकते हैं? दोनों अन्वयों से भाव एक ही निकलता है।

अब क्षणिकवादी का पूर्व पक्ष फिर दिखाते हैं-

स्थिरकार्याऽसिद्धेः क्षणिकत्वम् ॥३४॥ (३४)

स्थिर कार्य की असिद्धि से क्षणिकपना है।

कोई किसी पदार्थ को स्थिर सिद्ध नहीं कर सकता, सभी पदार्थ पूर्व क्षण से अगले क्षण में बदल जाते हैं, इसलिये क्षणिकवाद ठीक है, तदनुसार एक स्थिर आत्मा भी कोई नहीं, वह भी क्षणिकबुद्धिमात्र है। उत्तर-

न, प्रत्याभिज्ञावाधात् ॥३५॥ (३५)

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रत्यभिज्ञा से बाधा होने से (क्षणिकत्व) नहीं है।।

जिसको मैंने देखा था उसी को छूता हूं, या, जिस देवदत्त को 10 वर्ष पूर्व काशी में देखा था, उसी को अब मथुरा में देखता हूं। ऐसे पूर्वाऽनुभूत विषय का स्मरण करके उसी प्रत्यय का पुनः होना= 'प्रत्यभिक्षा' कहाती है।

यदि पुरुष का आत्मा ज्ञाता क्षणिक होता और क्षण-2 में बदलती तो 10 वर्ष की याद (प्रत्यभिज्ञा) तो क्या, पूर्व क्षण की याद भी किसी को न होती।

आगे दूसरा दोष देते हैं-

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ॥ ३६॥ (३६)

श्रुति और न्याय के विरोध में भी (क्षणिकत्व नहीं बनता)।

'सधैव सौम्येदमग्रे0'' छान्दोग्य 6 ।2।1 की श्रुति से सत ही कारण माना है, असत् नहीं। तथा 'कथमतसः सज्जायेत'' छां0 6।2।1 इस श्रौतन्याय में असत् से सत् कैसे हो सकता है, यह न्याय युक्ति दी है। इन दोनों से विरुद्ध क्षणिकवाद है, क्योंकि क्षणिकों के मत में प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण पश्चात् न रहे तो असत् से सत् मानना होगा जो श्रुति और न्याय के विरुद्ध है।

यदि कहो कि श्रुति और न्याय से पदार्थों का सत् होना पाया जाता है, न कि क्षणिक न होना, सो तो हमारे अनुकूल है, तो उत्तर यह है-

दृष्टान्ताऽसिद्धेश्च ॥३७॥ (३७)

दृष्टान्त की सिद्धि न होने से भी (क्षणिकवाद नहीं बनता)।

दीपशिखा आदि जिन दृष्टान्तों में तुम क्षणिकवाद बताते हो वे दृष्टान्त भी सिद्ध नहीं, क्योंकि बहुत शीघ्र बदलने वाले क्षणों में एक से अधिक क्षण तक रहने वाली भी दीपशिखा, क्षणिकत्व का भ्रम मात्र उत्पन्न करती है, वास्तव में क्षणिक नहीं। इसी प्रकार अन्य दृष्टान्तों में क्षणिकत्व नहीं बनता।

क्षणिकवाद में कार्य कारण भाव भी नहीं बनेगा क्योंकि -

युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणाभावः ॥३८॥ (३८)

एक साथ होने वाले दो पदार्थों में (परस्पर) कार्यकारण होना नहीं बनता। जैसे गौ के दो सींग एक साथ होते हैं, तो कोई नहीं कह सकता कि दाहिना सींग कार्य और बांया कारण है, या बायां कार्य और दाहिना कारण है ॥38॥ यदि कहो कि हम आगे-पीछे वालों को कारण मानते हैं तो-

पूर्वाऽपाये उत्तराऽयोगात् ॥३९॥ (३९)

पहले के नाश में अगले का योग नहीं हो सकता।

क्षणिकों के मत में पहला 'मृत्तिका' पदार्थ क्षणिक है, सो अगले क्षण में नष्ट

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हो जाता है, फिर वह घट कार्य कारण नहीं हो सकता। और

तद्भावे तदऽयोगादुभयव्यभिचारादपि न ॥४०॥ (४०)

पूर्व के भाव में उत्तर का और उत्तर के भाव में पूर्व का भाव न रहने से दोनों में व्यभिचार हुआ, इससे भी (कार्य कारण भाव) नहीं बनता।

क्षणिकवादानुसार जब मृत कारण है, तब घट कार्य नहीं, जब घट कार्य है तब मृत कारण नहीं अर्थात् कार्य कारण में सहचार नहीं, व्यभिचार है, तब यह कैसे कहां जाए कि 'घट' कार्य और 'मृत' उसका नियत उपादान कारण है ।40। यदि कहो कि जो पहले से था, वह कारण और जो पीछे से हो वह कार्य मानेंगे, चाहे कार्यकाल में कारण नहीं रहता, इस प्रकार हमारे क्षणिकवाद में कार्य कारणवाद बन जायगा, तो उत्तर-

पूर्वमावमात्रे न नियमः ॥४१॥ (४१)

पहले होना मात्र मानो तो नियम न रहेगा।

जो पहले हो वह कारण और पीछे हो सो कार्य, यदि इतना मात्र मानो तो यह नियम न रहेगा कि घट का कारण मृत ही है, कोई कह सकेगा कि घट से पहले वर्तमान सूत घट का कारण या वस्त्र से पहले मृत्तिका वस्त्र का कारण है। यूं तो नियम कोई न रहा, अन्धेरा हो गया कि बस जो किसी से पूर्वकाल में हो वह किसी उत्तराकालस्थ पदार्थ का कारण हो सकेगा।

क्षणिकों का खण्डन कर चुके, अब विज्ञानवादियों का खण्डन करते हैं कि-

न विज्ञानमात्र बाह्यमतीतेः ॥४२॥ (४२)

केवल विज्ञान ही (वस्तु) नहीं, क्योंकि बाह्य पदार्थ प्रतीत होते हैं।

अर्थात् यदि विज्ञानवादी कहें कि बन्ध का कारण क्यों ढूंढते हो, बन्ध भी विज्ञानमात्र है अर्थात् एक खयाल महज़ है, वास्तव में विज्ञान (खयाल) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तो इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं कि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं अतः वे पदार्थ सत्य हैं, केवल विज्ञान मात्र नहीं।

तदऽभावे तदऽभावांच्छून्यं तर्हि ॥४३॥ (४३)

उस (बाह्य) के अभाव में उस (विज्ञान) का अभाव होने से तो शून्य हुआ।

यदि कोई प्रतीत होते हुए भी बाह्य पदार्थों का अभाव माने और कहे कि स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं। वास्तव में कुछ नहीं तो इससे विज्ञान का भी अभाव कोई कह सकेगा, तब तो शून्य (कुछ नहीं) मानना पड़ेगा?

तो अब शून्यवादी का पक्ष खड़ा करते हैं कि-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शून्यं तत्त्वं, भावो विनश्यति, वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥४४॥ (४४)

शून्य तत्व है, भाव नष्ट हो जाता है, क्योंकि नाश वस्तु का धर्म है।

अपवादमात्रमऽबुद्धानाम् ॥४५॥ (४५)

बेसमझों का वृथा कथनमात्र है।

विनाश प्रत्येक वस्तु का धर्म नहीं है, केवल सावयव पदार्थ या वस्तु में नाश देखा जाता है, निरवयव पदार्थ का एकाऽवयव पदार्थ में नाश नहीं है, जैसे ईश्वर, जीव या प्राकृत परमाण का नाश नहीं। जबकि सूत्र 44 का दिया हेतु (क्योंकि 'नाश' वस्तु का धर्म है) ठीक नहीं, किन्तु सठयभिचार हेतु है, तब उस असत् हेतु से सिद्ध किया जाने वाला शून्यवाद कैसे हो सकता है। तथा च-

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥४६॥ (४६)

दोनों पक्षों में समान रक्षा से यह (शून्य पक्ष) भी (ठीक नहीं)।

जैसे क्षणिक बाह्यार्थ और क्षणिक विज्ञान ये दोनों पक्ष रक्षा में कच्चे हैं, उन्हीं के समान यह शून्य पक्ष भी त्याज्य है। जैसे क्षणिक बाह्यार्थ पक्ष में और क्षणिक विज्ञानवाद में प्रत्यभिज्ञा दोष था और यह प्रत्यभिज्ञा (पहचान) नहीं बनती थी कि 'जिस को मैंने काशी में देखा था उसी को आज मथुरा में देखता हूं' इत्यादि। इसी प्रकार शून्यवाद में भी पहचान नहीं है सकती, क्योंकि जिस देवदत्त को काशी में देखा था वह तो नाश के वस्तु धर्म होने से नष्ट हो गया, फिर मथुरा में वह कहां से आया, शून्यवाद के अनुसार वह तो नष्ट हो चुका। परन्तु प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा पहचान होती-देखी जाती है, जो शून्यवाद में बन नहीं सकती। अतएव शून्यवाद में भी क्षणिक बाह्यार्थ और क्षणिक विज्ञान के तुल्य 'प्रत्यभिज्ञा दोष' से रक्षा नहीं हो सकती, इसलिये यह पक्ष भी ठीक नही। और भी-

अपुरूषार्थत्वमुभयथा ॥४७॥ (४७)

अपुरुषार्थता दोनों प्रकार है।

जैसे क्षणिकों के मत में पुरूषार्थ व्यर्थ है, वैसे ही शून्यवादियों के मत में भी पुरुषार्थ व्यर्थ है, क्योंकि क्षणिक मत में कोई भी पदार्थ उत्तर क्षण में आप ही न रहेगा और शून्य मत में तो सब शून्य ही है, फिर पुरूषार्थ का क्या काम ॥47॥

यहां तक नास्तिक मतों का स्थापन और खण्डन करके फिर पूर्व क्रमागत आस्तिक मतों पर बन्ध हेतु का खण्डन चलाते हैं। यदि कोई कहे कि गति विशेष से पुरुष को बन्ध है, सो भी नहीं। यथा-

न गतिविशेषात् ॥४८॥ (४८)

गतिविशेष से भी (बन्ध नहीं)। क्योंकि-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निष्क्रियस्य तदऽसंभवात् ॥४९॥ (४९)

निष्क्रिय (पुरुष) को उस (गति) के असम्भव से।

गति तो सक्रिय पदार्थ में होती है, पुरुष निष्क्रिय है, उसमें क्रियाजनित परिणाम नहीं, अतएव गति विशेष से भी बन्ध नहीं हो सकता।

यदि कोई कहे कि हम तो पुरुष को न विभु मानते हैं, न अणु किन्तु मध्यम परिमाण वाला मानते हैं, तब तो गतिविशेष से बन्ध मानियेगा? क्योंकि मध्यम परिमाण में गति असम्भव नहीं। इस का उत्तर–

मूर्त्तत्वाद् घटादिवत्समानधर्मापत्तावपि सिद्धान्तः ॥५०॥ (५०)

मूर्त होने से घटादि के समान धर्म प्राप्त होने में सिद्धान्त की हानि है।

पुरुष को नित्य मानना प्रत्येक आस्तिक का सिद्धान्त है, परन्तु पुरुष को यदि मध्यम परिमाण वाला मानकर गतिपरिणामी मानें जैसे घटादि मध्य परिणाम पदार्थ सावयव होने से नित्य नहीं, अनित्य हैं, वैसे ही पुरुष भी अनित्य ठहरेगा। तब नित्य पुरुष मानने रूप सिद्धान्त की हानि होगी। अतएव मध्यम परिमाण मान कर पुण्य को मूर्त्त और गतिमान मानते हुए गतिविशेष को बन्ध हेतु मानना ठीक नहीं ॥ 50 ॥ यदि कहो कि पुरुष को श्रुति में गति वाला लिखा है, तो उत्तर–

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥५१॥ (५१)

गति श्रुति भी उपाधि के योग से है, आकाश के समान।

पुरुष चलता नहीं, किन्तु अन्तःकरण चलता है, जैसे रथ में बैठा हुआ रथी स्थिर है, पर रथ के चलने से रथी चलता कहा जाता है। ऐसे ही गतिरहित पुरुष की भी वेद और उपनिषदों की श्रुतियां गतिमान कहलाती हैं। जैसे

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याऽभिगछन्ति ये के चात्महनोजनाः यजुः ॥४०॥ ३।

इत्यादि श्रुतियों में पुरुष की गति कही गई है। सूत्र में जो आकाश का दृष्टान्त है, वह निष्क्रियपने में है, विभुपने में नहीं। दृष्टान्त एकांश में चरितार्थ होता है न कि सर्वांशों में। जैसे क्रिया परिमाण रहित घटस्थ आकाश, घट के इधर-उधर चलने से चलता कहलाता है, वैसे गति क्रिया के परिमाण से रहित भी पुरुष गतिमान कहा गया है, सो उसकी गति स्वयं नहीं, अन्तःकरण रूप उपाधि (घेरे) से है, वास्तव में नहीं। वास्तव स्वरूप को श्रुतियों और स्मृतियों ने निष्क्रिय ही माना है। यथा–

१-नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इत्यादिस्मृतिरिति विज्ञानभिक्षुः
२-बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेनचैव आराग्रमात्रीह्यवरोऽपिदृष्टः॥
इत्यादिश्रुतिरित्यपि स एव
३-निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगत्वादिश्रुतेः॥ सांख्यऐवद।१०
४-असंगोऽयं पुरुष इति ।।सां०१।१५ ऽपि॥
५-असंगोह्ययं पुरुषः ।।वृह० ६।३।१५

इत्यादि में पुरुष को निर्गुण, असंग, नित्य, अचल, सनातन बुद्धि के चलने से चलत्वारोप वाला आराग्रमात्र=अणु कहा है।

जिस पदार्थ में गति=हिलना होगा वह पदार्थ परिणामी (मुतगैयर) होगा जैसे हांडी के दही में बिलोडन रूप गति से दही का परिणाम तक़ (मठ्ठा) हो जाता है, दही नहीं रहता, वैसा पुरुष में गति नहीं पुरुष कूटस्थ है, वह अन्तःकरण की उपाधि में घिरा हुआ किसी लोक-लोकान्तर में चला जाय, परन्तु स्वरूप में अचल है अर्थात् किसी देश का परित्याग हो जाओ, किसी देश की प्राप्ति हो जाओ, पुरुष पूर्व देश और उत्तर देश में कूटस्थ एकरस ही रहेगा, क्योंकि देश बदला, परन्तु पुरुष नहीं बदला, पुरुष ज्यों का त्यों ही आकाश के समान एकरस रहा। क्योंकि उसके स्वरूप में कोई गति (हलचल) नहीं हुई, अतः पुरुष में कही हुई गति वास्तव में पुरुष में नहीं हुई किन्तु उपाधि में हुई पुरूष तो कूटस्थ ही रहा। अतएव गति विशेष से बन्ध मानना ठीक नहीं।

यदि कहो कि कर्मजन्य अदृष्ट=प्रारब्ध से बन्ध है तो उत्तर-

न कर्मणाऽप्यतद्धर्म्मत्वात् ॥५२॥ (५२)

अति प्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ॥५३॥ (५३)

कर्म से बन्ध नहीं क्योंकि वह (कर्म) उस (पुरूष) का धर्म नहीं
अन्य धर्म मानने में अतिप्रसंग (दोष) होगा।

यही बात 16वें सूत्र में भी (न कर्मणऽन्यधर्मत्वादतिमसक्तेश्च) कह आये हैं, फिर यहां उस एक सूत्रस्थ ही विषय को 52-53 सूत्रों में देखने से पुनरूक्ति जान पड़ती हैं, परन्तु सूत्र 16वें में कर्म शब्द से साक्षात् शुभ-अशुभ कर्मो का ग्रहण है, और यहां सूत्र 52 में उन कर्मो से उत्पन्न हुए अदृष्ट या प्रारब्ध का ग्रहण है। शेष सब अर्थ तुल्य है। इसी प्रकार अर्थभेद करके स्वामी हरिप्रसाद जी, सांख्य प्रवचन में विज्ञानभिक्षु वृत्ति में महादेव वेदान्ती इत्यादि अनेक टीकाकार समाधान करते हैं, इससे अधिक कोई समाधान हमको भी प्रतीत नहीं होता।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ॥ ५४ ॥ (५४)

निर्गुण श्रुतियों से भी विरोध है।

यदि पुरुष का ही धर्म यह भी मान लें कि कर्मजन्य अदृष्ट का कर्ता केवल पुरुष है, तो जो श्रुति पुरुष को निर्गुणादि विशेषण विक्षिष्ट कहती है, उनसे विरोध होगा, जैसा कि सूत्र 51 के भाष्य में हम श्रुति आदि लिख आए हैं। अतएव कर्मजन्य अदृष्ट से भी बन्ध नहीं हो सकता।

यदि कहो कि 'स्वभावतोबद्ध य० (7)' इत्यादि उत्तर प्रत्युत्तरों के पश्चात् जो न नित्यशुद्ध० इस 19वें सूत्र में प्रकृति पुरुष के संयोग का बन्ध माना था और उस पक्ष पर कोई आपत्ति नहीं दिखाई गई सो भी तो ठीक नहीं, क्योंकि जो दूषण न कालयोग० 12 वें सूत्र में कालकृतबन्ध मानने में दिया है, वही दोष बद्ध मुक्त दोनों के प्रकृति संयोग हो जाने से आता है, तब तो समान दोष रहा? उत्तर-

तद्योगोप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥ ५५॥ (५५)

उस (प्रकृति) का संयोग भी अविवेक से है, (अत:) समानता नहीं।

प्रकृति पुरुष का संयोग अविवेक से है, मुक्त जीव में विवेक होता है। अतएव कालादि के समान मुक्त पुरुष को बद्ध पुरुषों के समान अविवेक न होने से बन्धन नहीं हो सकता। इस कारण १९वें सूत्रोक्त पक्ष में १२ वें सूत्रों दोष के समान दोष नहीं आ सकता ।।55।।

क्यों जी! अविवेक का नाश ही कैसे हो सकता है, जब कि वह अनादिकाल से चला आता है? उत्तर-

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥ ५६ ॥ (५६)

नियत कारण से उस (अविवेक) का नाश हो जाता है, अन्धकार के समान।।

जैसे दीपक या सूर्यादि से अन्धकार का नाश हो जाता है, वैसे ही शास्त्रों में बताए उपायों से विवेक का उदय होता है और विवेकोदय ही अविवेक के नाश का नियत कारण है। उसी विवेकोदय से अविवेक का नाश हो सकता है जैसा कि समान तन्त्र योगदर्शन २।२६ में कहा है।

यदि कहो कि प्रकृति पुरुष के विवेक हो जाने पर भी अन्य अविवेक मोक्ष में बाधा डालते रहेंगे? तो यह उत्तर है कि-

प्रधानाऽविवेकादन्याऽविवेकस्य तद्धानेर्हानम् ॥ ५७॥

अन्य अविवेक, प्रकृति के अविवेक से होते हैं, (बस) उस अविवेक के नाश में अन्य अविवेकों का भी नाश हो जाता है।

जब प्रकृति के विषय में विवेक से अविवेक नष्ट हो जाता है तो प्रधान

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi
जपापुष्पम् = गाढ़मासे फूल

(प्रकृति) के कार्य महत्वादि के अविवेक अपने-आप नष्ट हो जाते हैं ॥५७॥

यदि कहो कि जब विवेक से मोक्ष है और अविवेक से बन्ध तो बन्ध के आवश्यक होते हुए पुरुष को नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव कहना ठीक नहीं जैसा कि सूत्र १९ में कहा था? उत्तर-

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥५८॥ (५८)

कथन मात्र है, न कि यथार्थ, क्योंकि (बन्धादि) चित्त स्थित हैं।

अविवेक बन्ध इत्यादि चित्त के धर्म हैं और चित्त में ही स्थित हैं, पुरुष में नहीं, पुरुष में कहे जाते हैं वा प्रतीतमात्र होते हैं वास्तव में स्वरूप से पुरुष को बन्धादि नहीं अतः पुरुष के नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव मानने में कोई दोष नहीं। बुद्धि वा चित्त के सामीप्य से पुरुष में बुद्धि के धर्म ऐसे प्रतीत होने लगते हैं, जैसे स्फटिक बिल्लोर में जपापुष्प की सुर्खी। वास्तव में तो जपापुष्प ही रक्त है, स्फटिक रक्त नहीं, परन्तु समीप होने से जपापुष्प की रक्तता स्फटिक में झलकती है। जैसे कोई प्रतीत मात्र करता है कि स्फटिक रक्त है पर स्फटिक की रक्तता वाङ्मात्र अर्थात् कथनमात्र है, वास्तविक स्फटिक का स्वरूप तो नित्य अर्थात् निर्मल नीरंग स्वच्छ है। वैसे ही पुरुष का स्वरूप तो नित्य जैसे का तैसा स्वच्छ निर्मल ज्यों का त्यों ही रहता है पुरुष की निज अवस्था जैसी बन्ध में है, वैसी ही मोक्ष में है, अपरिणामी पुरुष के स्वरूप में न तो बन्ध समय में कुछ अन्तर पड़ता है, न मोक्ष काल में कोई भेद होता है। केवल बुद्धिसाहचर्य से बन्धादि व्यवस्था व्यावहारिक है, इसी को सूत्र में वाङ्मात्र कहा है।

यदि कहो कि जब वास्तव में बन्धादि नहीं, केवल कथनमात्र है तो बन्ध नाश के लिये विवेकोदय के उपाय या उपदेश व्यर्थ हैं युक्ति से ही जान लिया कि बन्ध कोई वस्तु नहीं? उत्तर-

युक्तितोऽपिनवाध्यते, दिङ्मूढ़वदऽपरीक्षादृते ॥५९॥ (५९)

युक्ति से भी (बन्ध) हट नहीं सकता बिना साक्षात् ज्ञान के, जैसे दिशा भूलने वाला।

कभी-कभी अविवेक से मनुष्य को दिशाभ्रम हो जाता है, तब वह पूर्व को पश्चिम या उत्तर को दक्षिण इत्यादि विपरीत जानने लगता है, तो यद्यपि उसका उलटा जानना कथनमात्र है, वास्तव में तो दिशा बदली नहीं, परन्तु वह कथनमात्र भी दिशा भ्रम तब तक दूर नहीं होता, जब तक सूर्योदयादि साधनों से साक्षात् ज्ञान न हो। ऐसे ही बन्ध वास्तव में न हों परन्तु जब तक विवेकोदय से कथनमात्र बन्ध

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को भी दूर न किया जाए, तब तक बन्ध की निवृत्ति तो नहीं होती, अतएव विवेकख्याति कराने वाले या उपाय बताने वाले शास्त्र व्यर्थ नही।

जिन प्रकृति महत्तत्वादि से पुरुष की विवेकज्ञान होकर मुक्ति हो उनकी सिद्धि किस प्रकार हो सो कहते हैं-

अचाक्षुषाणामनुमानेनसिद्धिर्धूमादिभिरिवव्न्हेः ॥ ६०॥ (६०)

अदृष्ट पदार्थों की अनुमान से सिद्धि होती है जैसे धूमादिकों से अग्नि की।

प्रकृति आदि कई पदार्थ अदृष्ट अचाक्षुष प्रत्युत अतीन्द्रिय हैं, जो किसी इन्द्रिय से भी ग्रहण नहीं होते उनकी सिद्धि में अनुमान प्रमाण है, जैसे धूमादि को देख कर अदृष्ट अग्नि का अनुमान किया जाता है।

अब उन प्रकृत्यादि 25 पदार्थों का परिगणनपूर्वक निर्देश करते हैं, जिनमें विवेक होकर मोक्ष हो।

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रयं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ ६१॥ (६१)

1- सत्व रजस् तमस् की साम्यावस्था= प्रकृति, प्रकृति से 2 महत्तत्व, महत्तत्व से 3 अहंकार, अहंकार से 5-8 पांच तन्मात्रा और 9-19 दोनों प्रकार के इन्द्रिय (11 मन सहित) तन्मात्राओं से 20-24 पांच स्थूल भूत और 25-एक पुरुष, यह पञ्चविंशति 25 का गण-समूह है।

1- पुरुष और 24 अन्य पदार्थ हैं, इन 24 पदार्थों और पुरुष में अज्ञानियों को विवेक नहीं होता, वे प्रकृत्यादि को ही पुरुष भी मान बैठते हैं। शास्त्र का तात्पर्य इस बात में ही है, कि मुमुक्ष लोग प्रकृति और उसके कार्य महत्तत्वादि से पुरुष को भिन्न अपरिमाणी चेतन कार्य कारण दोनों से विलक्षण समझ जाए, यही विवेक है। इस सूत्र में आये सत्व रजस् तमस् 3 द्रव्य हैं, वैशेषिक की परिभाषा वाले गुण नहीं। इन तीनों को लोक में या शास्त्र में गुण इसलिये कहने लगे हैं कि पुरुष को बांधने वाली प्रकृतिरूपिणी रस्सी के ये तीन गुण-लड़ हैं, जैसे तीनों लड़ की दृढ़ रस्सी तिलड़ी भनी हुई पशु को बांधती है, वैसे सत्वादि तिलड़ी प्रकृति का अविवेककृत बन्धन पुरुष को होता है। इन सत्वादि तीनों को सब टोकाकार द्रव्य ही मानते हैं, वैशेषिकाभिमत गुण नहीं। यथा विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि-

सत्त्वादीनि द्रव्याणि, न वैशेषिका गुणाः, संयोग विभागत्त्वात्।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लघुत्वगुरुत्वचलत्वादिधर्मकत्वाच्च। तेष्वत्र शास्त्रे श्रुत्यादौच गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात्।

अर्थात् सत्वादि द्रव्य हैं, न कि वैशेषिक मत के गुण, क्योंकि संयोग विभागयुक्त है। (गुण संयोग विभाग रहित होते हैं) तथा हलके भारी, चलते-फिरते इत्यादि धर्मवान् होने से भी। (सत्वादि द्रव्य हैं, गुण नहीं) परन्तु इसको जो सांख्य शास्त्र और श्रुति आदि में गुण शब्द से कहा है सो इस कारण कि ये पुरुष के उपकरण (बन्धानसाधन) है।

इसी प्रकार महादेव वेदान्तिकृत वृत्ति में भी कहा है कि-

लघुत्वादिगुणयोगात्सत्त्वादित्रयं द्रव्यम् तत्र गुणशब्दस्तु पुरुषोपकरणत्वात्।

अर्थात् लघुत्वादि गुणवान् होने से सत्वादि तीनों द्रव्य हैं। उनमें गुण शब्द का व्यवहार इस कारण हुआ कि वे पुरुष के उपकरण हैं। स्वामी हरिप्रसाद जी कृत वैदिक वृत्ति में भी ऐसा ही कहा गया है कि-

सत्त्वरजस्तमांसिद्रव्याणि। न तु गुणाः। संयोगविभाग लघुत्वचलत्वगुरुत्वादिध र्मकत्वात्। गुणशब्दप्रयोगस्तु रज्जु साम्यात् पुरुषबन्धहेतमयोपचारिकः।

अर्थात् संयोग, विभाग, लघुत्व, गुरुस्वादि धर्म वाले होने से सत्व, रज, तम, द्रव्य हैं, न कि गुण। गुण शब्द का प्रयोग औपचारिक है क्योंकि पुरुष को बांध ने की रस्सी के समान (प्रकृति रस्सी के) सत्वादि 3 गुण=लड़ हैं। इसी प्रकार अन्य टीकाकार मानते है। वैशेषिक में गुण शब्द का अन्य अर्थ और सांख्य में गुण शब्द का अर्थ द्रव्य होने से शास्त्रों का परस्पर विरोध नहीं, क्योंकि प्रत्येक शास्त्रकार अपनी परिभाषा अलग अलग करते हैं, तो भी विरोध कोई नहीं। यूं तो पाणिनि मुनि ने=अदेङ्गुणः 1।1।2 सूत्र में अपने शास्त्र में गुण का लाक्षणिक अर्थ अ,ए, ओ, 3 अक्षर किया है, तो भी वही पाणिनि=वोतो गुणवचनात् 4।1।44 इत्यादि सूत्रों में वैशेषिका भिमतगुण शब्द का अर्थ लेते हैं, विरोध होता तो ऐसा क्यों होता।

इन सत्वादि तीनों द्रव्यों की अकार्य दशा या अवस्था अथवा कारणऽवस्था कहिये, प्रकृति कहलाती है। अर्थात् साम्य अवस्था वाले सत्वादि तीनों मिलकर प्रकृति हैं।

जब ये सत्वादि तीनों द्रव्य साम्यावस्था से विषमावस्था वा कार्यावस्था को प्राप्त होने लगते हैं तो पहले पहल जो परिणाम वा विकार या कार्य उत्पन्न होता है उसको महत्तत्व कहते हैं। प्रकृति वंश में पहली सन्तान यही है। इसी का बुद्धि तत्व भी कहते हैं। यह बुद्धि न्यायशास्त्रोक्त बुद्धि नहीं है न्याय में बुद्धि रुपलब्धि

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

र्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् 1।15 सूत्र में ज्ञान का नाम बुद्धि है जो आत्मा (पुरुष) का गुण है, न कि स्वतन्त्र द्रगव्य, परन्तु यहां महत्तत्व द्रव्य है जो प्रकृति का कार्य है। कोई कहेंगे कि प्रकृति और उसके समस्त कार्य तो जड़ और बुद्धि जानने का काम देती है, वह जड़ वा प्रकृति कैसे हो सकती है?

उत्तर= जिस प्रकार जड़ आंख भी देखने और देख कर रूप जानने का काम देती है, जड़ कान सुनने से शब्द ज्ञान का काम देते हैं, जड़ त्वचा स्पर्श ज्ञान कराती है, जड़ घ्राण भी गन्ध ज्ञान में सहायता देता है और जड़ रसना भी कटुतिक्तादि को बोधित कराती है, इतने से कोई क्या कह सकता है कि इन्द्रियां चेतन है? अथवा क्या कोई मानेगा कि चक्षुरादि इन्द्रियां प्राकृत नहीं हैं? कोई नहीं। जब ज्ञान साधनता मात्र से इन्द्रियां चेतन नहीं तो ज्ञान साधनता मात्र से बुद्धि को चेतन क्यों माना जाए, और प्रकृति का प्रथम कार्य मानने में क्यों शंका की जावे? वास्तव में जैसे आत्मा के दूर हो जाने पर चक्षुरादि इन्द्रियां रूपादि ज्ञान नहीं कराती इसी प्रकार आत्मा के उत्कान्त (शरीर छोड़ देने) होने पर बुद्धि तत्व या महत्तत्व भी ज्ञान नहीं कराता। अत: महत्तत्व या बुद्धि की प्राकृतता या जड़ता सुस्पष्ट है।

प्रश्न- न्यायदर्शन 1 अध्याय 1 आ० सूत्र में इन्द्रियों का उपादान कारण अश्वभूतों को माना है और इसके विरुद्ध सांख्य दर्शन 2 अ० 20 सूत्र (अहंकारिकत्व० इत्यादि) में प्रतिपादन किया गया हैं कि पंचभूत इन्द्रियों के कारण नहीं है सो विरोध क्यों है?

उत्तर- पदार्थों की संख्या या विभाग सब शास्त्रों में एक सा नहीं है। न्याय में प्रथम 16 पदार्थ प्रमाणादि बताकर उन 16 में से दूसरे प्रमेय के 12 भेद ये हैं-

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धि १। १ । ९

1 आत्मा, 2 शरीर, 3 इन्द्रिय, 4 अर्थ (विषय), 5 बुद्धि, 6 मनस, 7 प्रवृत्ति, 8 दोष, 9 प्रत्ययभाव, 10 फल, 11 दु:ख और 12 मोक्ष, परन्तु इसमें यह नहीं कहा कि ये 12 या 16 द्रव्य हैं, या गुण, कर्म हैं। इस व्यवस्था को वैशेषिक ने ठीक किया है और 6 पदार्थ विभाग करके माने हैं। तब क्या वैशेषिक से न्याय का कोई विरोध हो गया? कुछ नहीं। संसार के पदार्थों को कोई कैसे गिनता है, कोई कैसे। कोई कुछ संज्ञा रखता है, कोई कुछ। ये बातें विरोध की नहीं। इस प्रकार विचार से ज्ञात होगा कि जिस जगत् के उपादान की सांख्य शास्त्र ने एक संज्ञा 'प्रकृति' की है, उसी की न्यादयर्शनकार ने कारण द्रव्य मानकर पंचभूत संज्ञा रक्खी है। तब न्याय का भूतों से इंद्रियोत्पत्ति मानना अपने मत के उपादान

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कारणरूप पंचतत्व (जिन को सांख्य में सत्वादि की साम्यावस्था कह कर प्रकृति माना है के अभिप्राय से है, न कि सांख्याभिमत प्रकृति के चौथे कार्य पंचस्थूलभूतों से, और हम समझते हैं कि इसी कारण सांख्यदर्शन के प्रणेता ने बुद्धिमानी की है जो सूत्र 1।31 में 'स्थूलभूतानि' कहते हुए कार्य रूप पंचभूत बताने को ही स्थूल शब्द विशेषार्थ रख दिया है कि कोई न्याय के कारण द्रव्य पंच सूक्ष्मभूतों का अर्थ न समझ ले। बस जब व्यवस्था भेद है और न्याय में कारण भूतों का कार्य इंद्रियां बताई हैं, और सांख्य में कार्य (स्थूल) पंचभूत गिनाए हैं तब सांख्यकार ने-

अहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि २। २०

में इंद्रियों के भौतिकत्व का जो खण्डन किया है वह अपने मत के स्थूल भूतों का कार्य न मानते हुए किया है, न कि न्यायाभिमत कारण या सूक्ष्म पंचभूतों के कार्यत्व का। अतएव परस्पर न्याय सांख्य में इस अंश में विरोध नहीं।

जिस प्रकार इस सूत्र में प्रकृति का निर्देश मात्र है, कुछ लक्षण नहीं, इसी प्रकार इस सूत्र में महदादि का भी नाममात्र निर्देश से बताया है । दोनों प्रकार के इंद्रियों से तात्पर्य अन्तःकरण और बहिःकरण भेद नाम दो भेद है उनमें से अन्तःकरण में 1 मन है, बहिकरण में पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं। सब मिल कर 11 हुए। पांच ज्ञानेन्द्रिय ये हैं- 1 कान, 2 त्वचा, 3 आंख, 4 रसना और 5 नासिका। पांच कर्मेन्द्रिय ये हैं 1 हाथ, 2 पांव, 3 वाणी, 4 उपस्थ और 5 गुदा। जिस प्रकार 5 कर्मेन्द्रियों के अन्तर्गत 1 हाथ है, उस हाथ के दो भेद हैं 1 दांया दूसरा बायां। अथवा दहिने बांये भेद से दो पांव या पशुओं के चार पांव भी 1 पाद के अन्तर्गत हैं, वैसे ही 'मन' के अन्तर्गत उसी का भेद 'चित' भी समझना चाहिए।

'पुरुष' शब्द से 1 परमेश्वर और अंसख्य जीवों का ग्रहण है क्योंकि असंख्य जीवात्मा और 1 परमात्मा पुरुष शब्द के अर्थ हैं। 'गण' शब्द जो सूत्र के अन्त में है वह समुदाय वा समूह का अर्थ देता है। इस पर विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि-

सत्त्वादीनां प्रतयेकव्यक्त्याऽऽनन्त्यं गणशब्दोव्यक्तिः॥

अर्थात् सत्वादि में एक 2 व्यक्ति की अनन्तता को 'गण' शब्द कहता है। सत्व अनेक हैं, महत्तत्व अनेक हैं, अहंकार भी अनेक हैं जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न 2 हैं। ऐसे ही 5 तन्मात्रा 5 स्थूल भूत और पुरुष भी अनेक या अनन्त हैं।

यद्यपि यहां सांख्य दर्शन में सत्वादि 25 पच्चीसों पदार्थ द्रव्य रूप ही हैं, तथापि वैशेषिक में कह द्रव्य गुण कर्मादि सब इन्हीं के अन्तर्गत हैं, इस बात की पुष्टि विज्ञानभिक्षु भी करते हैं, वे कहते हैं कि-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

धर्मधर्म्यऽभेदात्तु गुणकर्मसामान्यादिनामत्रेवान्तर्भाव:

धर्म और धर्मो को भिन्न-भिन्न न गिनें तो गुण कर्म सामान्य आदि इन्हीं संख्योक्त 25 पदार्थो में अन्तर्गन रहते हैं।

वास्तव में धर्मी से पृथक् धर्म है भी नहीं। जैसे पृथ्वी द्रव्य और उस का गन्ध गुण है, परन्तु गन्धगुण न हो तब पृथ्वी क्या है? कुछ कह नहीं सकते। दुग्ध की श्वेतता आदि समस्त गुण न रहें तब क्या दुग्ध रहेगा? कभी नहीं। इस प्रकार सूक्ष्म विचार किया जाए तो धर्मी से भिन्न धर्म (गुण कर्म इत्यादि) ठहर न सकेगा। इस प्रकार इन 25 पदार्थों में सब कुछ अन्तर्गत न माने और इन से भिन्न भी कोई पदार्थ माने तो इन शास्त्र में न कहे हुए अन्य पदार्थो से पुरुष के भिन्नता रूप विवेक इस शास्त्र द्वारा न रहे अतएव सब पदार्थों का अन्तर्भाव इन्हीं 25 में है, ऐसा जानना चाहिए और सांख्य मत में असंख्य पदार्थ मानना बताना मूढ़ता है। वैशेषिक में जो दिशा और काल दो द्रव्य गिनाए हैं, वे सांख्य के 'आकाश' पदार्थ के अन्तर्गत हैं जो आकाश में 5 भूतों में 1 एक है जैसा कि इसी सांख्य में आगे 2।12 में कहेंगे कि - **दिक्कालावाकाशादिभ्य:।।**

वे ही 25 पदार्थ कहीं एक दूसरे में अन्तर्गत मानकर 1 या 6 या 16 इत्यादि अनेक प्रकार से वर्णित हैं जैसा कि एक कवि कहता है सो हम विज्ञानभिक्षुभाष्य से उद्‌धृत करते हैं-

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानितगणि च।।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन्वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वश: ।।१।।
इति नाना प्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभि:कृतम्
सवैन्याय्य युक्तिमत्वाद्विदुषां किमशोभ नम्।।२।।

अर्थात् एक तत्व में अन्य तत्वों के अन्तर्गत गिनकर अनेक ऋषियों ने तत्वों की अनेक प्रकार की संख्या बताई है जो सभी युक्तियुक्त होने से न्याय्य (ठीक) है, विद्वानों को क्या अशोभन है? वे सब प्रकार से निरूपण कर सकते हैं, यह बुद्धिवैभव का फल है।।.

यही चार पदार्थ प्रश्नोपनिषद् 4/8 में कहे हैं कि-

पृथिवी च पृथिवी मात्रा चापश्चापी मात्रा च
तेजश्चयं..... प्राणश्च विधारयितव्यंच।।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ये ही सब प्रलय काल में परमात्मा में लय को प्राप्त हो जाते हैं तब 1 तत्व कहलाता है, परन्तु लय का अर्थ सूक्ष्मभाव से रहना है, नाश नहीं, इस बात को प्रसिद्ध वेदान्ती विज्ञानभिक्षु भी स्वीकार करते हैं कि-

लयस्तु सूक्ष्मीभावेनाऽवस्थानं न तु नाश इति

जिससे स्पष्ट है कि वेदान्ती लोगों ने जो 'अद्वैत' शब्द का ठीक तात्पर्य समझे हैं वे जीवात्मा या प्रकृति का नाश नहीं मानते केवल परमात्मा में लीन होकर रहना मानते हैं इसी युक्ति से उपनिषदों में जहां-जहां अद्वैतवाद की शंका उठती हैं उन सब का समाधान हो जायेगा।

इस सूत्र के भाव को लेकर श्रीमान् पं० ईश्वरकृष्ण जी अपनी 'सांख्यकारिका' में इस प्रकार लिखते हैं कि-

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महादाद्याः प्रकृतिविवृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारा न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष। ॥२॥

श्रीमान् गौड़ पादाचार्य कृत भाष्यानुसार कारिका का अर्थ यह है कि इन 25 पदार्थों के 4 भेद हैं। 1 अविकृतिप्रकृति। 2 प्रकृति विकृति। 3 विकृति और 4 न प्रकृति न विकृति। 1= मूलप्रकृति (प्रधान) है जो किसी का विकार न होने से 'अविकृति है और महत्तत्वादि का उपादान होने से 'प्रकृत' है।

2 दूसरे 7 सात पदार्थ प्रकृति और विकृति हैं वे 7 ये हैं-

1 महत्तत्व, 2 अहंकार, 3-7 पांच तन्मात्र= शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध। ये प्रकृति और विकृति इस प्रकार हैं कि 1 महत्तत्व है जो मूल प्रकृति का विकार होने से विकृति और अहंकार अपादान होने से प्रकृति। 2 अहंकार है जो महत्तत्व का विकार करने से विकृति और पांच तन्मात्रों का उपादान होने से प्रकृति। 3 शब्द तन्मात्र है जो अहंकार का विकार होने से विकृति और आकाश का उपादान होने से प्रकृति। 4 स्पर्श है जो अहंकार का विकार होने से विकृति और वायु का उपादन होने से प्रकृति। 5 रूप हैं जो अहंकार का विकार होने से विकृति और अग्नि का उपादान होने से प्रकृति। 6 रस है जो अहंकार का विकार होने से विकृति और जल का उपादान होने से प्रकृति और 7 गन्ध तन्मात्र है जो अहंकार का कार्य या विकार होने से विकृति और पृथ्वी (पांचवें स्थूल भूत) का उपादान होने से प्रकृति है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

3 विकृति-ये 16 पदार्थ हैं, जो केवल विकृति हैं, प्रकृति (उपादान) नहीं। वे 16 ये हैं-5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां, 1 मन, 5 स्थूलभूत इन सोलहों में से 10 इन्द्रियें और 11वां मन तो अहंकार का विकार होने से विकृति है तथा 5 स्थूलभूत हैं जो 5 तन्मात्रों की विकृति (कार्य) हैं।

4 पुरुष हैं, जो न प्रकृति है, न विकृति हैं। प्रकृति इसलिये नहीं कि उससे कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। विकृति इसलिये नहीं कि पुरुष किसी से विकार रूपेण उत्पन्न नहीं हुआ ।।61।।

अब यह देख कर कि 5 पदार्थों में पंचस्थूल भूतादि का बोध तो प्रत्यक्ष से है, परन्तु प्रकृत्यादि 20 सूक्ष्मों का बोध कैसे हो? सो बताते हैं-

स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य ॥६२॥ (६२)

स्थूल से पांच तन्मात्र का (अनुमान से) बोध होता है।

पृथिव्यादि पांच स्थूलभूतों से उन के सूक्ष्म कारण पांच तन्मात्रों का बोध हो जाता है, क्योंकि कार्य को जानकर कारण का अनुमान से बोध हुआ करता है। 'अनुमानेन बोधः' इतनी अनुवृत्ति सूत्र 60 में से आती है।

वाह्याभ्यान्तराभ्यां तैश्चाऽहंकारस्य ॥ ६३॥ (६३)

बाह्य और अभ्यान्तरों (दोनों प्रकार के मन आदि इन्द्रियों) से तथा उन (पांच तन्मात्रों) से अहंकार का (अनुमान से बोध होता है) ॥

क्योंकि कार्य से कारण का बोध हुआ करता है अतः 11 इन्द्रियाँ और पांच तन्मात्र कार्यों से उन के कारण अहंकार का बोध होता है।

तेनान्तःकरणस्य ॥६४॥ (६४)

उस (अहंकार) से अन्तःकरण (महत्तव या बुद्धि तत्व) का (अनुमान से बोध होता है)

यद्यपि अन्यत्र अन्तःकरण शब्द से मन बुद्धि चित्त अहंकार चारों का ग्रहण हुआ करता है, परन्तु यहां 62।63 सूत्रों में मन और अहंकार का पृथक् निर्देश होने से अवशिष्ट और क्रम प्राप्त महत्तत्व का ग्रहण ही इष्ट समझना चाहिए।

ततः प्रकृतेः ॥६५॥ (६५)

उस (महत्तत्व) से प्रकृति का (अनुमान से बोध होता है)।

इस प्रकार कार्य से कारण का अनुमान करके प्रकृति आदि 19 पदार्थों का बोध कहा, परन्तु पुरुष तो न किसी का कार्य है, न उपादान कारण, उसका बोध किस प्रकार हो? उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥६६॥ (६६)

संहतों के परार्थ होने से पुरुष का (अनुमान से) बोध होता है।

प्रकृति और महत्तत्वादि 23 कार्य पदार्थ 'संहत' हैं सो अपने लिये कुछ नहीं, परार्थ हैं। जैसे वस्त्र, भोजन, शय्यादि पदार्थ अपने लिये नहीं किसी अन्य के लिये होते हैं वैसे ही प्रकृत्यादि 24 पदार्थ भी अन्य के भोग मोक्ष का साधन हैं और जिसके भोग, मोक्ष का साधन है वही पुरुष है जो संहतों के परार्थ होने रूप सामान्यतोदृष्ट अनुमान से जाना जाता है।

तो क्या जैसे स्थूलभूतादि के कारण पंचतन्मात्रादि बताये ऐसे ही प्रकृति का भी कोई कारण है? नहीं, सो कहते हैं-

मूले मूलाऽभावादऽमूलं मूलम् ॥६७॥ (६७)

मूल में मूल न होने से मूल, अनन्यमूल है॥

महत्तत्वादि 23 तत्वों का मूल प्रकृति है, जिसका मूल कारण अन्य कोई नहीं अतः वह मूल प्रकृति 'अमूल' है अर्थात् अन्य मूलरहित स्वयं ही शेष 23 का मूल कारण है।

यदि कोई प्रकृति से भी परम्परा चलाए तो उत्तर-

पराम्पर्येप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ॥६८॥ (६८)

परम्परा होना मानने में भी एकत्र समाप्ति मानोगे तब नाममात्र (विवाद) है।

यदि कोई प्रकृति से परे अन्य मूल, उससे परे अन्य इत्यादि परम्परा चलाए तो भी किसी एक को सब से परे मानेगा, और उसका कुछ नाम (प्रकृति नाम न रख कर) रखेगा, हम उसी को प्रकृति कहेंगे तब हम वादी-प्रतिवादियों में नाममात्र व संज्ञामात्र भेद रहेगा, वास्तविक भेद नहीं। क्योंकि-

समानः प्रकृतेर्द्वयोः ॥६९॥ (६९)

दोनों (पक्षों) में प्रकृति का (एक मानना) समान है।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥७०॥ (७०)

अधिकारियों के त्रिविध होने से नियम नहीं॥

उत्तम, मध्यम, अधम 3 प्रकार के अधिकारी होते हैं, इस कारण यह नियम नहीं हो सकता कि इस सुगम उपाय से जो यहां वर्णित है, सबको विवेक हो जाए और सबकी मुक्ति हो जाए।

प्रकृति आदि के कारण कार्य भाव को तो कह चुके, अब उसका क्रम कहते हैं-

महदाख्यमाद्यं कार्य तन्मनः ॥७१॥ (७१)

महत् नामक पहला कार्य है वह मननात्मक (वृत्ति=शुद्धि) है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यहां मनः शब्द से एकादशर्व इन्द्रियमन का ग्रहण नहीं, वह तो 'उभयमिन्द्रियम्' कहने से अहंकार का कार्य है, सो तीसरा कार्य है, आद्य कार्य यहां मनः शब्द से बुद्धि ही ग्रहण करना चाहिए।

चरमोऽहंकारः ॥७२॥ (७२)

इस से अगला (दूसरा) अहंकार है।

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥७३॥ (७३)

अगले (11 इन्द्रियां, 5 तन्मात्र) उस (अहंकार) के कार्य हैं। इसी से यह भी समझना चाहिये कि पंचतन्मात्रों का कार्य स्थूलभूत है।

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥७४॥ (७४)

परम्पराभाव में भी उस (महदादि) के द्वारा आद्य (प्रकृति) को अणु के समान होता है।

यद्यपि महत् आदि कार्य भी उत्तरोत्तर अपने से अगलों के कारण हैं तथापि परम्परा से महदादि के द्वारा प्रकृति सबका आदि कारण है।

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्तु हानेऽन्यतरयोगः ॥७५॥ (७५)

यदि पूर्व होने से दोनों (प्रकृति पुरुष) को (कारण मानें) तो एकतर पुरुष को छोड़ने पर अन्यतर (प्रकृति) को योग है।

यदि कोई सोचे कि जैसे प्रकृति सबसे पहली है, किसी से उत्पन्न नहीं इसलिये वह सबका उपादान कारण मानी गई, ऐसे ही पुरुष में भी तो पूर्व भावित्व है, अर्थात् पुरुष भी तो महदादि सबसे पहला हैं, उसको भी उपादान कारण क्यों न मान लें तो उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों ही पूर्व भावी है परन्तु उन दोनों से विकार रहित होने से पुरुष में उपादानता का हान (त्याग) होने पर अन्य रही प्रकृति उसी में उपादानकारणता युक्त है॥

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥७६॥ (७६)

परिच्छिन्न (एकदेशीय पदार्थ) सब का उपादान नहीं हो सकता।

प्रकृति को छोड़कर महत्तत्वादि पदार्थ परिच्छिन्न हैं, वे सबका उपादान नहीं हो सकता।

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥७७॥ (७७)

उसकी उत्पत्ति के श्रवण से भी।

परिच्छिन्न सब पदार्थों की उत्पत्ति भी सुनी जाती है, इससे भी वह सबका उपादान नहीं हो सकते। जैसा कि वृहदारण्यक उपनिषद् 1। 4 । 7 में कहा है कि-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तद्धेदंतर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेवव्याक्रियते इत्यादि

अर्थात् प्रथम अव्याकृत प्रधान या प्रकृति एक पदार्थ था, उसमें से अन्य पदार्थ बनते गये और उन के नाम और रूप होते गये।

यदि कहो कि अभाव से ही सब जगत की उत्पत्ति मानने में क्या दोष है? तो उत्तर-

नावस्तुनोवस्तुसिद्धि ॥७८॥ (७८)

अवस्तु से वस्तु की सिद्धि (उत्पत्ति) नहीं हो सकती ॥78॥

यदि कहो कि जगत को भी हम अवस्तु ही मान लेंगे, जैसे रस्सी में सांप, सीप में चांदी इत्यादि अवस्तु भी वस्तु जान पड़ती हैं, वैसे अवस्तु रूप जगत भी वस्तु रूप से प्रतीत होता है। इसमें क्या दोष है? उत्तर-

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नाऽवस्तुत्वम् ॥ ७९॥ (७९)

अबाध होने पर अदुष्ट कारण से उत्पन्न हुआ होने से (जगत को) अवस्तुत्व नहीं है॥

जैसे रस्सी को सांप या सीप की चांदी समझना, भ्रान्ति निवृत्त होने पर बाधित है, वैसे जगत की प्रतीति बाधित नहीं, वह बाधा रहित है और भ्रमात्मक प्रतीति इन्द्रियों के दोष से उत्पन्न होती है, जैसे रस्सी में सांप या दीपक की एक ज्योति में 2 या 3 या 4 ज्योति प्रतीत होती हैं। वह प्रतीति दुष्ट कारणजन्य है, परन्तु जगत अदुष्टकारण जन्य है। अतः अवस्तु नहीं।

यदि कहो कि अभाव से भावोत्पत्ति ही क्यों न मान लें? तो उत्तर-

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात्
कुतस्तरां तत्सिद्धिः ॥८०॥ (८०)

भाव माने तो उस (भाव) से उस (कारण के भाव) की भी सिद्धि होगी और अभाव मानें तो उस (भाव) की सिद्धि काहे से हो।

तो क्या कर्म ही जगत का उपादान कारण है? नहीं-

न कर्मण उपादानत्वाऽयोगात् ॥८१॥ (८१)

कर्म को उपादानपन के अयोग से (कारणत्व सिद्ध) नहीं।

कर्म निमित्त कारण तो है और हो सकता है, परन्तु कर्म किसी का उपादान नहीं बन सकता, क्योंकि द्रव्य से द्रव्य उत्पन्न हो सकता है कर्म से द्रव्य नहीं ॥81॥

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि कहो कि कर्म उपादान नहीं, पर निमित्त कारण तो है जब कर्म जगत की उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं, तो उन वैदिक कर्मों से ही मोक्ष भी हो जायेगा, प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान की क्या आवश्यकता है? तो उत्तर-

नाऽऽनुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनाऽवृत्ति योगादड-पुरुषार्थत्वम् ॥ ८२॥ (८२)

वैदिक विहित कर्म से भी उस (मोक्ष) की सिद्धि नहीं, क्योंकि (कर्म) साधन जन्य है, अतः आवृत्ति (पुनर्जन्म) होने से (कर्म को) पुरुषार्थता नहीं।

केवल वैदिक अग्निष्टोमादि यज्ञ कर्मों से मोक्ष नहीं है सकता जब तक ज्ञान न हो, क्योंकि कर्म तो साधनों से अर्थात् हस्तपादादि इन्द्रियों से बनते हैं, तब उनका फल मोक्ष भी साधनों (इन्द्रियों) से ही भोगना पड़ेगा, और इसलिये पुनः देहधारणादि की आवृत्ति होगी। इस दशा में कर्म को पुरुषार्थत्व क्या हुआ जब कि साधनों बिना उसका फल स्वतन्त्र होकर न पाया। प्रथम सूत्र

(16) में कर्म से 'बन्धन' को असम्भव कहा था फिर सूत्र

(81) में कर्म 'से जगदुत्पत्ति' को असम्भव कहा, अब इस

(82) वें सूत्र में कर्म से 'मोक्ष' को असम्भव कहा, अतः इन तीनों सूत्रों में पुनरुक्ति नहीं हैं।

तत्र प्राप्तविवेकस्याऽनावृत्तिश्रुतिः ॥ ८३॥ (८३)

वहां (मोक्ष में) प्राप्त विवेक पुरुष की अनावृत्ति सुनते हैं।

जैसे कर्मी लोग जन्म-मरण के चक्कर में हैं, वैसे ज्ञानी लोग चक्र में आवृत्ति, नहीं करते फिरते। कल्पान्तर में मुक्ति से पुनरावृत्ति दूसरी बात हैं ॥83॥

तो कर्म से क्या फल होगा? उत्तर-

दुःखाद्दुखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥ ८४॥ (८४)

दुःख के पश्चात् दुःख होता है, जड़ता छूटती नहीं, जैसे नित्य जल स्नान।

जैसे आज स्नान किया, थोड़ी देर की मलिनता दूर हुई, सायंकाल या अगला दिन फिर स्नान की आवश्यकता हो गई, ऐसे ही कर्म करने मात्र से बिना ज्ञान के जन्म मरण रूप दुःख की बारम्बार आवृत्ति रहती है, जड़ता (अज्ञान) छूटता नहीं।

अच्छा तो निष्काम कर्म से तो मुक्त हो जायगी? उत्तर-

काम्येऽकाम्येपि साध्यत्वाविशेषात् ॥ ८५॥ (८५)

काम्य और अकाम्य में भी साधत्व की समानता से (दुःख या बन्ध की निवृत्ति नहीं)

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसे काम्य= सकाम कर्म साध्य=साधनजन्य है, वैसे ही निष्काम या अकाम्य कर्म भी साधनजन्य है, बस उसका फल भी साधन (इन्द्रियों) द्वारा होगा, तब दुःख अवश्य रहा, इसलिये काम्य और अकाम्य में साधन जन्यता की समानता है, विशेष नहीं।

यदि कहो कि ऐसे तो विवेकजन्य ज्ञान द्वारा प्राप्त मोक्ष में भी सुख भोगार्थ इन्द्रियों की आवश्यकता पड़ेगी, फिर तो इसी के समान वह भी रहा? उत्तर-

निजमुक्तस्य बन्ध ध्वंसमात्रं परं, न समानत्वम् ॥ ८६॥ (८६)

स्वरूप से मुक्त को पराकाष्ठा का बन्ध नाशमात्र है, (अतः) समानता नहीं। कर्म से मुक्त हो तो आत्मा के साक्षात् सच्चिन्मात्र स्वरूप से नहीं हुई, परन्तु विवेक या ज्ञान से मुक्ति हो तो उस निज मुक्त (स्वरूप से मुक्ति) की परला (अत्यन्त) बन्धन नाशमात्र हो गया, इसलिये कर्म द्वारा मोक्ष को ज्ञानजन्य मोक्ष की समानता नहीं।

अच्छा तो प्रकृति पुरुषों के विवेक से ही मुक्ति सही तो भी प्रमाणों का उपदेश किये बिना वह कैसे सिद्ध होगी, अतः सांख्याचार्य प्रमाणों का वर्णन आरम्भ करते हैं-

द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसंनिकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥ ८७॥ (८७)

असन्निकृष्ट अर्थ का निश्चयात्मक बाध 'प्रमा' है, चाहे वह दोनों (बुद्धि और पुरुष) को हो, या दोनों में से किसी एक को हो। उस (प्रमा) का जो अत्यन्त साधक है वह प्रमाण तीन प्रकार का है।

असन्निकृष्ट का अर्थ 'प्रमाता ने नहीं जाना' है। जो पदार्थ प्रमाता पुरुष या बुद्धि प्रमात्री ने या दोनों में से एक ने अब तक जाना नहीं था, उसके यथार्थ जान लेने को 'प्रमाण' कहते हैं, उस प्रमा के सिद्ध करने को तीन प्रकार के प्रमण (1 प्रत्यक्ष 2 अनुमान 3 शब्द) हैं।

क्यों जी! उपमानादि अन्य प्रमाण क्यों नहीं गिनाए? उत्तर-

तत्सिद्धो सर्वसिद्धेर्नाऽऽधिक्यसिद्धिः ॥८८॥ (८८)

उन (3) की सिद्धि में अन्य सब (प्रमाणों) की सिद्धि होने से अधिक (प्रमाणों) की सिद्धि नहीं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हम तीन से अधिक प्रमाण इसलिये नहीं मानते हैं कि उन्हीं तीन में सब उपमानादि भी अन्तर्गत होने से सिद्ध हैं।

अब 3 प्रमाणों में से प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं:-

यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि
विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ॥ ८९॥ (८९)

सम्बद्ध हुआ जो तदाकारचित्रात्मक विज्ञान है वह प्रत्यक्ष है।

इन्द्रियों के सन्निकर्षरूप सम्बन्ध को प्राप्त हुआ जो उस विषय के आकार का चित्र खींचने वाला विज्ञान है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

यदि कहो कि योगियों को तो बिना इन्द्रिय सम्बन्ध के भी तदाकारोल्लेखि विज्ञान हो जाता है, इसलिये उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष है। तो उत्तर-

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥ ९०॥ (९०)

योगियों को बाह्य प्रत्यक्ष न होने से दोष (अव्याप्ति) नहीं।

योगियों को बाह्य प्रत्यक्ष न होने से उनके ज्ञान का नाम 'प्रत्यक्ष ज्ञान' ही नहीं, अतः अव्याप्ति दोष नहीं आता। अथवा-

लनिवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ॥ ९१॥ (९१)

लीन वस्तुओं में लब्ध अत्यन्त सम्बन्ध से (भी अव्याप्ति) दोष नहीं।

अन्य साधारणों को तो वर्तमान वस्तु का ही इन्द्रिय सम्बन्ध होता है परन्तु योगियों को लीन (भूत या भविष्यत्) का भी सम्बन्ध (सन्निकर्ष) हो जाता है, सो भी अन्यों को तो सम्बन्ध ही होता है, योगियों को अत्यन्त सम्बन्ध होता है, इसलिये प्रत्यक्ष का लक्षण वहां भी चरितार्थ हो जाने से अव्याप्ति नहीं आती। योगियों के वस्तु सम्बन्ध को इस सूत्र में अतिशय सम्बन्ध या अत्यन्त सम्बन्ध इस लिये कहा है कि साधारण जनों को तो घट पटादि पदार्थों के केवल ऊपरी भाग का सम्बन्ध होता है, परन्तु योगियों को भीतर, बाहर, ऊपर नीचे सब का सब साक्षात् हो जाता है, इसलिये योगियों को अतिशय सम्बन्ध का लाभ हो जाता है, फिर प्रत्यक्ष लक्षण में अव्याप्ति दोष कहाँ रह सकता है? यथा-

इश्वरोऽसिद्धः ॥ ९२॥ (९२)

ईश्वर की असिद्धि से (दोष=अव्याप्ति नहीं)।

यदि कोई इन्द्रियों के ही सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होना माने तो उसको ईश्वर की भी सिद्धि नहीं माननी पड़ेगी, क्योंकि ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) बिना

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन्द्रियों के ही हो जाता है, अतः योगियों का इन्द्रिय सम्बन्ध बिना भी जो प्रत्यक्ष से घटपटादि का ज्ञान हो जाता है उसमें प्रत्यक्ष लक्षण क्यों अव्याप्त माना जाए?

यदि कहो कि बिना इन्द्रियों के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष न मानने में ईश्वराऽसिद्धि दोष कैसे आएगा? तो उत्तर-

मुक्तबद्ध्योरन्यतराऽभावान्न तत्सिद्धि ॥ ९३॥ (९३)

बद्ध और मुक्त इन दोनों में से किसी एक के अभाव से उस (ईश्वर) की सिद्धि न होगी।

यदि ईश्वर को बद्ध मानें तो ईश्वरता न रही, और मुक्त मानें तौ इन्द्रियों का विषय न होने से योगियों को उसका प्रत्यक्ष न हो सके। जब दोनों पक्ष नहीं बनते तब उस ईश्वर को असिद्धि रूप दोष आया। इसलिये इंद्रिय सम्बन्ध के बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान होना मानना ही योगियों को ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष का साधक है और ऐसा मानने से प्रत्यक्ष लक्षण में योग प्रत्यक्ष भी घटित होना अव्याप्ति दोष नहीं आएगा।

उभयथाऽप्यसत्करत्वम् ॥ ९४॥ (९४)

दोनों प्रकार से भी व्यर्थ है।

बस ईश्वर की ईश्वरता सिद्ध नहीं हो सकती, मुक्त ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता, इस प्रकार दोनों पक्ष में उसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कह सकते। इससे यह मानना ठीक है कि योगियों का बाह्येन्द्रिय संबन्ध बिना भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ऐसा मानने में प्रत्यक्ष लक्षण, ईश्वर विषयक योगिकृत प्रत्यक्ष में अव्याप्त (न घटने वाला) नहीं रहता।

मुक्तात्मनः प्रशंसोपासा सिद्धस्य वा ॥ ९५॥ (९५)

प्रशंसा मुक्तात्मा की है, और उपासना सिद्ध की है।

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से है अन्यथा नहीं, यदि ईश्वर प्रत्यक्ष प्रमाण से योगियों को भी सिद्ध न हो तो उसकी उपासना व्यर्थ हो जाए और यदि बद्ध हो तो उस की प्रशंसा जो वेदादि शास्त्रों में कहीं है, वह न बन सके। वह प्रशंसा तो मुक्तात्मा ईश्वर की ही हो सकती है।

यदि कहो कि अतीन्द्रिय और मुक्त ईश्वर जगद्रचनादि राग के से कामों का अधिष्ठाता कैसे हो सकता है? तो उत्तर-

तत्सन्निधानादधिष्टातृत्वं मणिवत् ॥ ९६ ॥ (९६)

उस (ईश्वर) के सामीप्यमात्र से अधिष्ठातापन है, जैसे मणि में।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मणि चुम्बक जैसे लोहा खींचने को कोई क्रिया नहीं करता, किन्तु स्वभाव से ही लोहा उसकी ओर खिंच जाता है, केवल लोहे के समीपमात्र में चुम्बक होना पर्याप्त है। ईश्वर भी इसी प्रकार मुक्तस्वभाव रागादि रहित है तो भी उसकी समीपता=व्यापकता ही उसके अधिष्ठातापन को सिद्ध कर देती है। ईश्वर कुछ नहीं करता, पर उसकी सत्ता (होना मात्र) ही प्रकृति और जीवों के अधिष्ठातापन को पर्याप्त है। जैसा कि महादेव वेदान्ति वृत्ति में लिखा है कि-

निरिच्छे संस्थितेरत्ने यथा लोहः प्रवर्त्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथेबाऽयं जगज्जनिः ॥ १॥

जैसे बिना इच्छा वाले रत्न (मणि=चुम्बक) के स्थित रहने मात्र में लोहा (आप से आप) प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्तामात्र देव=ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति (आदि) होती है।

अत आत्मनि कत्तृत्वमकर्त्तत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादऽकर्त्ताऽसौ कर्त्तासन्निधिमात्रतः ॥ २॥

इस कारण आत्मा (ईश्वर) में कर्तव्य और अकर्तृव्य भी अच्छे प्रकार सिद्ध है, वह निरिच्छ होने से अकर्त्ता और सामीप्य मात्र से कर्त्ता है।

विज्ञानभिक्षु कृत सांख्य प्रवचन भाष्य में भी ये दोनों कारिका पाई जाती हैं।

और 'ईक्षतेर्नाऽशब्दम्' इत्यादि वेदान्त सूत्रों और 'सपेक्षतबहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि उपनिषद्वचनों में जो ईश्वर का ईक्षण (इरादा) वर्णित है, उसका उत्तर विज्ञानभिक्षु स्वयं देते हैं कि- तदेक्षत०००श्रुतिस्तु कूलं पिपतिषतीतिवत् गोणी। प्रकृति रासतवहुतरगुण संयोगात्।

जैसे नदीकूल जब गिरने को होती है, जब कहते हैं कि नदी का किनारा (कूल) गिरना चाहता है, यद्यपि उस कूल में चाहना नहीं है। तद्वत् ईश्वर भी स्वभावसिद्ध सामीप्यमात्र से जगत् को रचने को होता है तब कहते हैं कि ईश्वर जगत को रचना चाहता है। इस प्रकार सन्निधान (सामीप्य) मात्र से कर्तव्य माना है और वास्तव में ईश्वर निष्क्रिय है। जैसा कि वेद में भी लिखा है कि 'तदेजतितन्नैजति' (यजु:अध्याय 40) वह सक्रिय है और निष्क्रिय भी है, स्वरूप से निष्क्रिय और सन्निधान मात्र से स्वभाव सिद्ध सक्रिय है। उपनिषद में भी कहा है कि 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इत्यादि=परमेश्वर की ज्ञानबल क्रिया स्वाभाविकी है, रागादि नैमित्तिक नहीं।

यदि कहो कि सामीप्यमात्र से तो कोई काम नहीं होता, जब तक यत्नपूर्वक कर्त्ता अपने काम को रागासक्त होकर न करे? क्योंकि ऐसा होता तो चेतन जीव

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

का भी देह में होना मात्र (सामीप्य मात्र) ही सब काम करा देता, रागप्रयुक्त क्रिया की क्या आवश्यकता थी? तो उत्तर-

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ॥ ९७॥ (९७)

विशेष कार्यों में जीवों का भी (सान्निध्य मात्र से अधिष्ठातापन है)।

विशेष (खास-खास) काम ऐसे जीवों के भी हैं जिनकों करने में उन्हें राग प्रयुक्त क्रिया नहीं करनी पड़ती, केवल सामीप्य मात्र से सब होता रहता है। जैसे पलक झपकना, दिल धड़कना, रक्तवाहिनी नाड़ियों की गति इत्यादि कार्यों में जीवों को रागपूर्वक क्या करना पड़ता है? कुछ नहीं। अपने आप जीवों के देह में रहने मात्र से सब कार्य चलता रहता है। हां! जीव देह से निकल जाए तो कुछ नहीं होता।

सिद्धरूपबोद्धृ त्वाद्वाक्योपथादेशः ॥ ९८॥ (९८)

सिद्ध स्वरूप और बाधक होने से वाक्यार्थ का उपदेश है।

यदि कोई कहे कि ईश्वर के सन्निधानमात्र से जगदुत्पत्यादि कार्य चल जाए परन्तु वाक्यार्थ (वेद) का उपदेश तो प्रयत्न से ही हो सकता है, सामीप्य मात्र से नहीं, इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि परमेश्वर सिद्ध रूप है, सिद्ध में सर्वशक्तियां स्वाभाविक होती हैं और परमेश्वर बोद्धा अर्थात् चेतन ज्ञानी है, केवल चुम्बक मणि के तुल्य जड़ नहीं। बस चेतन बोधरूप परमात्मा ऋषियों के हृदय में भी सन्निहित था, अतः उसके सन्निधानमात्र से वाक्यार्थोपदेश (वेदोपदेश) भी हो सकता था और हो गया।

यदि पुरुष= जीवात्मा और परमात्मा केवल सन्निधानमात्र से अधिष्ठाता हैं तो इन संकल्प (इरादा) इत्यादि से कौन अधिष्ठाता है? तो उत्तर-

अन्तःकरणम्यतदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥ ९९ ॥

अन्तःकरण के उस (पुरुष) द्वारा उज्ज्वलित होने से लोहे के समान (अन्तःकरण को) अधिष्ठातापन है।

संकल्पादि अन्तःकरण के अधिष्ठातापन से होते हैं। यदि कहो कि जड़ अन्तःकरण में संकल्पादि कैसे हो सकते हैं, तो उत्तर यह है कि अन्तःकरण स्वयं जड़ है, परन्तु पुरुष के सन्निधान से उज्ज्वलित (रोशन) हो जाता है। इस में दृष्टान्त लोहे का है। यद्यपि लोहा स्वरूप से न चमकीला है न दाहक है, परन्तु उसमें अग्नि का वास (सन्निधान) होने से वह भी चमकने लगता है और दाह करने लगता है। ऐसे ही जड़ अन्तःकरण भी चेतन पुरूष के सन्निधान से सकंल्पादि चेतनों के काम करने लगता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अब दूसरे अनुमान प्रमाण का वर्णन करते हैं-

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ १०० ॥ (१००)

व्याप्ति के देखने वाले को जो व्याप्तिमान् का ज्ञान होता है, वह अनुमान है। अटल या अव्यभिचारी सम्बन्ध को प्रतिबन्नध या व्याप्ति कहते हैं जैसे- जहां जहां धुआं होता है वहां-2 अग्नि होती है यह धुआं और अग्नि का अटल सम्बन्ध व्याप्ति कहलाता है, इस व्याप्ति के जानने वाले को ऐसे स्थान में भी जहां धुआं दीखता हो पर अग्नि न दिखाई पड़े वहां-वहां अग्नि अवश्य है, इस बात का भी अनुमान प्रमाण से ज्ञान होता है कि पर्वत में धुआं उठता है और अग्नि नहीं दिखती तो पर्वत में अग्नि होने का अनुमान किया जाता है।

अब तीसरे शब्द प्रमाण का वर्णन करते हैं-

आप्तोपदेशः शब्दः ॥१०१॥ (१०१)

प्रामाणिक (आप्त के उपदेश को शब्द प्रमाण) कहते हैं।

उभयसिद्धि प्रामाणात्तदुपदेशः ॥१०२॥ (१०२)

प्रमाण से उभय (प्रकृति और पुरुष) की सिद्धि होती है, अतः उस (प्रमाण) का उपदेश (वर्णन यहां किया गया है)॥102॥

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धि ॥१०३॥ (१०३)

सामान्यतोदृष्ट (अनुमान) से उभय (दोनों प्रकृति और पुरुष) की सिद्धि होती है।

सामान्य से बार-बार अनेक स्थानों पर जो बात पाई जाती है, उससे किसी अन्य पदार्थ के अनुमान को 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते हैं। यह तीन प्रकार के अनुमान जो न्यायदर्शन अ० 1 सू० 5 में कहे हैं, उनमें से तीसरा अनुमान है। जैसे कोई पदार्थ बिना गति क्रिया के एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता। यह अनेक बार देखने से सिद्ध हो गया है। बस इसी से देवदत्त को एक स्थान पर देखने के पश्चात अन्य स्थान में देख कर उसकी गति क्रिया का अनुमान किया जाता है। इसको सामान्यतो दृष्ट अनुमान कहते हैं। अब इस सूत्र का अर्थ यह हुआ कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण से प्रकृति और पुरुष दोनों सिद्ध हैं।

चिदवसानो भोगः ॥ १०४ ॥ (१०४)

चेतन आत्मा तक भोग हैं।

अर्थात् यदि कोई कहे कि प्रत्यक्ष अनुमान या शब्द प्रमाण द्वारा जो बोध होता है, वह तो बुद्धि को होता है पुरुष का उससे क्या लगाव? इसके उत्तर में कहते

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हैं कि इष्टऽनिष्ट विषयों का अनुभव=भोग, आत्मा चेतन पुरुष तक समाप्त हो जाता है। किसी देह को जब पुरुष त्याग देता है, तब उसमें भोग=इष्टाऽनिष्ट विषयों का अनुभव नहीं होता। इससे जाना जाता है कि यद्यपि पुरुष अलग और स्वरूप से केवल है, परन्तु बुद्धि के उपराग से पुरुष के ही सुख-दुःख इष्ट अनिष्ट विषयों का भोग=ज्ञान या अनुभव होता है, स्वतन्त्र जडस्वरूप बुद्धि तत्व को नहीं।

अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥१०५॥ (१०५)

अकर्त्ता (पुरुष) को भी फल का उपभोग अन्नाद्य के समान होता है।

यद्यपि केवल पुरुष में क्रिया नहीं, अतएव पुरुष अपने स्वरूप से अकर्त्ता है, तथापि जैसे स्वामी के लिये जो रसोइये लोग अन्नाद्य=भोज्य पदार्थ बनाते हैं उस भोजपदार्थ का भोग जैसे स्वामी को होता है तद्वत् पुरुष के लिये जो बुद्धि विषयों का अनुभव करती है, वह विषय भोग आत्मा को होते हैं।

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः ॥ १०६ ॥ (१०६)

अथवा अविवेक से (पुरुष में) कर्त्तत्व सिद्ध होने से कर्त्ता (पुरुष) को फलभोग की प्राप्ति है।

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से उत्तम समझकर दूसरा अपना अभिमत पक्ष कपिल मुनि ने कहा है कि यदि कोई अकर्त्ता को फल मिला असंग समझे तो पुरुष को एक प्रकार से कर्त्ता भी समझना चाहिए। वह इस प्रकार यह है कि अविवेक या अज्ञान से पुरुष में बुद्धि का उपराग होता है और उपराग पुरुष कर्त्ता बन बैठता है और कर्त्ता बनकर फल भोग का भागी बन जाता है।

नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥ १०७ ॥ (१०७)

तत्व के आख्यान में दोनों नहीं।

प्रकृति पुरुष के साक्षात् होने को 'तत्व' कहते हैं, उसे वर्णन में दोनों न हों, न तो कर्त्तृव, न भोक्तृत्व। मुक्ति अवस्था में न पुरुष कर्त्ता रहता न भोक्ता। अन्तःकरण वहिः करणों के त्याग या छूटने पर केवल पुरुष में न कर्त्तापन है न भोक्तापन है।

प्रश्न- जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता, वह है ही नहीं, तब उसको सामान्यतोदृष्ट अनुमान का विषय भी क्योंकर माना जाए? उत्तर-

विषयोऽविषयोऽप्यऽतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ॥ १०८॥ (१०८)

अति दूर होने आदि कारणों से और इन्द्रिय के होने तथा अन्यासक्त होने से विषय भी अविषय हो जाता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रत्यक्ष का विषय भी विषय नहीं रहता जब कि अति दूर हो, अति समीप हो, अतिसूक्ष्म हो, परदे में हो, अथवा जिस आंख आदि इन्द्रिय से किसी विषय को प्रत्यक्ष करते हैं उस इंद्रिय में कोई हान (विकार) हो जाने से उस इन्द्रिय के अन्य विषय में लग जाने से। तो क्या उस दशा में जबकि उक्त कारणों में से किसी एक या अनेक कारणों से कोई विषय प्रत्यक्ष का विषय न रहे, तब क्या उस विषय पदार्थ की सत्ता ही नहीं रहती? यदि रहती है तो यह प्रश्न ठीक नहीं कि जो प्रत्यक्ष का विषय न हो, वह है ही नहीं।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥ १०९॥ (१०९)

सूक्ष्म होने से उन (प्रकृति और पुरुष) की उपलब्धि नहीं होती।

पूर्व सूत्रोक्त अति दूरादि कारणों में से सूक्ष्म होने के कारण से प्रकृति और पुरुष उपलब्ध नहीं होते।

यदि कहो कि जब उपलब्ध नहीं होते तो उनके होने में प्रमाण क्या है? तो उत्तर-

कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥ ११०॥ (११०)

कार्य के दर्शन से उन (प्रकृति और पुरुष) की उपलब्धि होने से (वे हैं अवश्य)।

प्रकृति उपलब्ध न हो, पर उसके स्थूल कार्य उपलब्ध होते हैं, पुरुष भी उपलब्ध न हो, पर उसके भी काम पाये जाते हैं, इससे उनकी सिद्धि हो जाती है। शंका-

व दिविप्रतिपत्तेस्तदऽसिद्धिरिति चेत् ॥ १११॥ (१११)

यदि कहो कि वादी लोग परस्पर एक दूसरे से विरुद्ध हैं इस कारण उन (प्रकृति पुरुष) की सिद्धि नहीं।

अर्थात् कार्य को देखकर कारण के अनुमान प्रमाण द्वारा जगत् को देखकर केवल इतना सिद्ध होता है कि कोई कारण अवश्य है, परन्तु यह तो सिद्ध नहीं होता कि वह कारण प्रकृति पुरुष ही है । क्योंकि कई शून्य को कारण बताते हैं, जैसे सौगत कोई ब्रह्मा को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बताते हैं, जैसे अद्वैती वेदान्ती। कोई केवल परमाणु (पुरुष नहीं को कारण मानते हैं, जैसे चार्वाक। तब कार्य को देखकर वह कारण का अनुमान करने पर भी यह कैसे निश्चय हो कि कारण प्रकृति और पुरुष ही हैं?

तथाप्येकतरदृष्ट्याऽन्यतरसिद्धिर्नाऽपलापः ॥ ११२॥ (११२)

तो भी एक के देखने से अन्य की सिद्धि से असत्यता नहीं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यद्यपि जगत के कारण में भिन्न-भिन्न मतों का विरोध है, तो भी एकतर (कार्य) के देखने से (अन्यतर) कारण के सिद्ध हो जाने से कोई प्रकृति का अपालप (विरोध) नहीं कर सकता। और-

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥११३॥ (११३)

तीन प्रकार के विरोध आ पड़ने से भी।

यदि प्रकृति को जगत् को कारण न मानें तो तीन प्रकार के विरोध आएंगे। 1 अजामे कांलोहित शुक्लकृष्ण म० श्वेताश्वेतर पनिषद् 4।5 इत्यादि श्रुतियों से विरोध आएगा। 2 प्रकृते क्रियमाणनि गुणैःकर्माणि नित्यः। गीता 3।27 इत्यादि स्मृति से विरोध। 3 जैसा कार्य होता है वैसा ही कारण होता है, कारण गुण पूर्वकः कार्यगुणों दृष्टः इत्यादि। न्याय के अनुसार कार्य जगत् में सत्व, रज, तम 3 गुण देखे जाते हैं तब कारण में त्रिगुणात्मकत्व न मानना तीसरा न्याय का विरोध आएगा। अतएव प्रकृति के जगत्कारणत्व का अपलाप नहीं बन सकता अथवा त्रिविध विरोध यही समझें कि जगत यदि त्रिगुणत्मिका प्रकृति का कार्य न होता तो 3 प्रकार के गुण सत्व रज तम जगत में ना पाये जाते। पाये जाते है अतएव प्रकृति को जगत्कारण न मानने में त्रिविध विरोध आता है।

यदि कहो कि असत से सत् हो गया इस कारण त्रिगुण रहित कारण भी त्रिगुण सहित जगत् बन गया, तो उत्तर-

नाऽसदुत्पादो नृश्रृङ्गवत् ॥११४॥ (११४)

असत् से सत की उत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे मनुष्य के सींग (नहीं हो सकते)। क्योंकि-

उपादाननियमात् ॥११५॥ (११५)

उपादान के नियम से (नृश्रृादी अंगसद की उत्पत्ति नहीं होती)।

सर्वत्र सर्वदा सर्वाऽसंभवात् ॥११६॥ (११६)

सर्वस्थानों में सर्वकालों में सब कुछ (उत्पन्न) नहीं हो सकता।

यदि उपादान कारण का नियम न होता तो सर्वत्र सब काल में सब कुछ उत्पन्न हो जाता। गेहूं बोने से चने हो जाते। ऊपर भूमि में अंकुर उपजते। मनुष्य के वीर्य से पशु उत्पन्न होते। परन्तु ऐसा नहीं होता जिससे उपादान कारण का नियम सिद्ध होता है कि नियमानुसार ही कारण गुणनुकूल कार्य गुण पाये जाते हैं और पाये जायेंगे।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शक्तम्य शक्यकरणात् ॥ ११७ ॥ (११७)

शक्तिमान् भी शक्य को ही करता है इससे भी (नियम पाया जाता है) ।

असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति करने का सामर्थ्य नहीं। जो जिस कार्य के उत्पन्न करने को शक्त (समर्थ) है और जो उसको उत्पन्न कर सकता है उसी को वह उत्पन्न कर सकता है इससे भी असत् से सत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं।

कारणभावाच्च ॥ ११८॥ (११८)

कारण के भाव से भी (असत्उत्पत्ति नहीं हो सकती)।

कार्य के लिये कारण आवश्यक देखा जाता है इस लिये कारण भाव से भी असत् से सत् नहीं हो सकता। शंका

न, भावे भावयोगश्चेत् ॥ ११९॥ (११९)

यदि भाव में भाव माना जाए तो (उत्पत्ति व्यवहार) नहीं हो सकता।

यदि कारण के भाव में कार्य भी उत्पत्ति से पहले ही वर्तमान था, तो किसी पदार्थ की उत्पत्ति अनुत्पत्ति बराबर है अतएव उत्पत्त कहना ही न बनेगा। उत्तर-

नाऽभिब्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहार ऽव्यवहारौ ॥ १२०॥ (१२०)

नहीं, क्योंकि व्यवहार अव्यवहार प्रकट होने से सम्बन्ध रखते हैं।

चाहे कारण में अप्रकट रूप से कार्य पहले विद्यमान हो, पर प्रकट होने से उत्पन्न होने का व्यवहार किया जाता है, और प्रकट न होने तक उत्पन्न होने का व्यवहार नहीं होता, अतः उक्त शंका नहीं आ सकती।

नाशः कारणलयः ॥ १२१॥ १२१

कारण में (कार्य का) लीन होना=नाश है।

यदि कोई समझे कि जब प्रत्येक कार्य सद्रूप या भावरूप ही है, तो किसी के नाश का क्या अर्थ होगा? उत्तर-केवल कारण में कार्य का लय हो जाना ही नाश है भाव से अभाव हो जाना= नाश नहीं है, न अभावन्न भाव हो जाना-उत्पत्ति है।

पारम्पर्यतोऽन्वेषण बीजाङ्कुरवत् ॥ १२२॥ १२२

बीज और अंकुर के समान परम्परा से खोजना चाहिये।

यदि कोई कहे कि कारण में लय का नाम नपाश है, तो कार्य से कारण भी हुआ। इस दशा में किसे कारण कहें और किसे कार्य? तो उत्तर यह है कि जैसे बीज से अंकुर, अंकुर से बीज बीज से पुनः अंकुर। इस परम्परा में भी प्रथम बीज=कारण, फिर अंकुर=कार्य माना जाता है, ऐसे ही कारण प्रथमं और कार्य पश्चात् होने वाले को कहेंगे।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उत्पत्तिवद्वाऽदोषः ॥१२३॥ १२३

अथवा उत्पत्ति के समान (अभिव्यक्ति में भी) दोष (अनवस्था) नहीं।

जैसे असत्कार्यवादी उत्पत्ति और नाश में अनवस्था दोष नहीं मानते, वैसे ही हंम सत्कार्यवादी (सांख्य) अभिव्यति को भी अभिव्यक्ति में स्वरूप ही मानते हैं अतएव हमारे मत में दोष नहीं आता।

अब यह कहेंगे कि चाहे उत्पत्ति या अभिव्यक्ति से पूर्व कार्य की अनभिव्यता है, और इस के आधार पर नित्य प्रकृति पदार्थ भी सिद्ध हो तो भी "यह कार्य है और यह कारण है ऐसा विवेक ज्ञान कैसे हो, जब कि दोनों एक से जान पड़ते हैं? इस के उत्तर में उपयोगी जानकार साधर्म्य, वैधर्म्य प्रकरण का आरम्भ करते हुए प्रथम महत्तत्व से लेकर महाभूतों तक व्यक्त कार्यो का साधर्म्य वर्णन करते हैं-

हेतुमदऽनित्यमऽव्यापिसक्रियमनेकमाश्रितंलिङ्गम् ॥१२४॥ १२४

लिंग= हेतुवाला, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय, अनेक और आश्रयवान् होता है।

कारण प्रकृति में लीन हो जाने वाले होने से महत्तत्वादि पंच महाभूत पर्यन्त कार्य पदार्थों को लिंग कहा गया है, उस लिंग के इतने विशेषण हैं- 1 कारण वाला हो, 2 अनित्य हो 3 जो प्रत्येक परिणामी पदार्थों में व्याप न सके 4 क्रिया सहित हो, 5 संख्या में अनेक हो, एक अद्वितीय न हो, 6 आश्रित अर्थात् सहारे या आध ार वाला हो, निराधार न हो।

इस में 'ईश्वर कृष्ण जी' ने सांख्यकारिका में 2 विशेषण अधिक दिये हैं, यथा-

हेतुमदऽनित्यमऽव्यापि, सक्रियमनेकमाश्रित लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्र, व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१॥

परन्तु साऽवयव ओरपरन्त्र, ये विशेषण प्रकृति में भी घटते हैं इसलिये यह कारिकाकार का मत हमारी समझ में युक्त नहीं जान पड़ता।

यदि कोई उक्तलक्षणविशिष्ठ महत्त्ववादि महाभूतान्त कार्यो के अतिरिक्त कारण को न माने तो उसके उत्तर में कहते हैं-

आञ्जम्यादऽभेदतोवा गुण सामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ॥१२५॥ १२५

आञ्जस्य=कार्य कारण के अन्वय और व्यतिरेक से, या गुणों का समानतादि से अभेद होने से उस (कारण) की सिद्धि है, अथवा (शास्त्रों में) प्रधान शब्द के व्यपदेश (कथन) से।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कारण के गुण कार्य में अन्वय रखते हैं, कारण में जो गुण न हो, वे कार्य में भी नहीं होते, यह व्यतिरेक हुआ, इन दोनों को आञ्जस्य कहते हैं, इन अन्वव्यतिरेक से कारण और कार्य में अभेद होता है, अथवा यूं कहिये कि गुण के सामान होने आदि से, अथवा शास्त्र में प्रधान शब्द के निर्देश से जो प्रकृति का पर्याय है, यह सिद्ध होता है कि महत्तत्वादि का कारण प्रकृति है। महत्तत्वादि में परस्पर हेतुमत्वादि साधर्म्य है, उसके विपरीत प्रकृति में हेतुमत्वादि विशेषण नहीं घटते, अतएव प्रकृति से विकृतियों (महत्तत्वादि) का वैधर्म्य है। और-

त्रिगुणाऽचेतनत्वादिद्वयोः ॥ १२६॥ १२६

त्रिगुणवान् होना, अचेतन होना इत्यादि (साधर्म्य) दोनों कार्य और कारण में है।

प्रीत्यऽप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामऽन्योन्यवैधर्म्यम् ॥ १२७ ॥ १२७

प्रीत अप्रीति और विषाद आदि से गुणों में परस्परवैधर्म्य है।

प्रीति=सुख इत्यादि, अप्रति=अप्रसन्नता या दुःख इत्यादि और विषाद=मोह इत्यादि असाधारण धर्मो से गुणों (सत्व रजस् तमस्) में परस्पर विरुद्धधर्मता है। प्रीति, लघुपना, सहनशीलता, सन्तोष, सरलता, कोमलता, लज्जा, श्रद्धा, क्षमा, दया, ज्ञान इत्यादि नाना रूप और नाना भेद वाला सत्वगुण है, दुःख, शोक, द्वेष, द्रोह, मात्यर्य, निन्दा, पराभव, चंचलता इत्यादि नाना रूप और भेद रजोगणु के है और मोह भय, ठगई, नास्तिकता, कुटिलता, कृपणता, भारीपन, अज्ञान इत्यादि अनेक नामरूप भेद तमोगुण में हैं। इस प्रकार ये तीनों गुण इन धर्मो से परस्पर विरुद्ध धर्म वाले हैं।

अब साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों दिखाते हैं-

लध्वादिधमैंः साधर्म्य वैधर्म्य चगुणानानाम् ॥ १२८॥

लाघव आदि धर्मों से गुणों में साधर्म्य और वैधर्म्य भी है।।

जब पूर्व सूत्र में वैधर्म्य बता चुके तब इस सूत्र में पुनः 'वैधर्म्य पाठ' व्यर्थ जान पड़ता है, ओर वैधर्म्य का कुछ ब्यौरा (विवरण) भी इस सूत्र में नहीं किया।

विज्ञानभिक्षु भी इस सूत्र के पाठ (वैधर्म्य) को प्रामादिक=भूल का बताते हैं और गुणानां पूर्व सूत्र में था ही, उसकी अनुवृत्ति और प्रकरण होते हुए पुनः इस सूत्र में भी गुणानां पाठ पुनरुक्त होने से व्यर्थ है। इस प्रनरूक्ति पर न तो विज्ञानभिक्षु ने, न महादेव वेदान्ती ने, न स्वामी हरिप्रसाद जी ने और न प० आर्यमुनिक जी ने चारटीका हमारे सामने हैं किसी ने कुछ नहीं लिखा। जबकि लघुत्व सत्व का, चलत्व रजस का और गुरूत्व तमस् का धर्म है और लघुत्व

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चलत्व, गुरूत्व तीनों भिन्न-भिन्न हैं तब लघुत्वादि धर्मों से गुणों में साधर्म्य कहां हुवा, किन्तु वैधर्म्य हुआ सो पूर्व सूत्र से ही कहा गया इस सूत्र ने विशेष कुछ नहीं कहा, अतः व्यर्थ जान पड़ता है। किसी अन्य टीकाकार ने भी इस दोष पर दृष्टि नहीं डाली। हां अर्थ में अपनी कल्पना की है जो सूत्रार्थ नहीं, है, जैसा कि विज्ञानभिक्षु और महादेव वेदान्ती कहते हैं कि-

अयमर्थः-लघ्यादीतिभावप्रधानोनिर्देशः। लघुत्वादि धर्मेण सर्वासां सत्त्वव्यक्तोनां साधर्म्य, वैधर्म्य च रजस्तमोम्याम्।....एवं चञ्चलत्वादिधर्मेण सर्वासांरजोव्यक्तिनां साधर्म्य, वैधर्म्य च सत्त्वतमोभ्याम्। शेषं पूर्ववत्। एव गुरुत्त्वादिधर्मेण सर्वासां तमोव्यक्तीनां साधर्म्य, वैधर्म्य च सत्त्वरजोभ्याम्। शेषं पूर्ववदिति।

इसी आशय का पाठ महादेव वेदान्तीकृत वृत्ति में है। इनका आशय यह है कि लघुत्व, प्रीति, सहनशीलता, सन्तोष, सरलता, कोमलता, लज्जा इत्यादि जो पूर्व सूत्र में सत्व की अनेक व्यक्तियां कहीं हैं, उन में परस्पर साधर्म्य है, और सत्वव्यक्तियों का रजस्, तमस् की व्यक्त्यों से वैधर्म्य हैं। इसी प्रकार चंचलता, दुःख, शोक, द्वेष इत्यादि रजोगुण व्यक्तियों में परस्पर साधर्म्य और सत्व तथा तमोव्यक्तियों से वधर्म्य है। इसी प्रकार तमस् की गुरुत्व, मोह, भय, नास्तिकता, अज्ञान इत्यादि व्यक्तियों में परस्पर साधर्म्य है और सत्व, रजस् की व्यक्तियों से वैधर्म्य है।।

बात तो ठीक है, पर सूत्र तो गुणानां पाठ से गुणों के साधर्म्य वैधर्म्य को कहता है, और ये टीकाकार एक-एक गुण की अनेक व्यक्तियों के साधर्म्य को कहते हैं इसलिये हमारी सम्मति में ठीक नहीं अन्य दो टीकाकार 'पुरूषार्थत्व' से गुणों का साधर्म्य बताते हैं वह बात भी ठीक है कि सत्व भी पुरुष के लिये रजस् और तमस् भी। इस अंश में तीनों की सत्ता पुरुष के भोग, मोक्ष का हेतु होने में तीनों का साधर्म्य है, परन्तु सूत्र में पुरुषार्थ का अन्श मात्र भी वर्णन नहीं, उन टीकाकारों ने आदि शब्द से भी पूर्वसूत्र का टीका में पुरुषार्थत्वका संग्रह नहीं किया।

हां सांख्यकारिका में तो सत्वादि की व्यत्तियां गिनाई हैं, उन में पुरुषार्थत्वादि का कथन है। यथा-

सत्त्वं लघुप्रकाशक-मिष्टमुपष्टम्भकं, चलं व रजः
गुरु वरणकमेव तमः-प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिः ॥ १३॥
प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रय-जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२॥

परन्तु यह कारिकार्थ हो सकता था, सूत्रार्थ नहीं। यह ठीक है कि तीनों गुणों

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

में पुरुष के लिये होना, एक दूसरे का दबाने वाला होना, आश्रयवृत्ति होना, जननवृत्ति होना, मिथुनवृत्ति होना इत्यादि से गुणों का परस्पर साधर्म्य है परन्तु सूत्रोक्त लघुत्वादि से तो साधर्म्य नहीं, किन्तु वैधर्म्य है। इसलिये चाहे सब टीकाकार कारिकोक्ति विषय का कथन ठीक-ठीक करते हैं, परन्तु सूत्र की व्यर्थता का समाधान उससे नहीं होता।

दर्शनकार जैसे सूक्ष्मदर्शियों से ऐसा पुनरुक्ति और व्यर्थपाठ लिखे जाने की आशा नहीं होती, न जाने किस प्रकार किसने यह सूत्र बढ़ा दिया हो।

उभयान्यत्वात्कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ॥१२९॥ १२९

दोनों (प्रकृति पुरुष) से अन्य होने रूप कारण से महत्तत्वादि को कार्यत्व है जैसे घटादि को।

महत्तत्व से लेकर स्थूल भूतोंपर्यन्त कार्य हैं, कारण नहीं। क्योंकि न तो महत्तत्वादि प्रकृति है, न पुरुष हैं, किन्तु दोनों से भिन्न हैं अतः वे कार्य हैं।

परिमाणात् ॥१३०॥ १३०

परिमाण से (भी महत्तत्वादि कार्य हैं)॥

महत्तत्वादि परिमित या परिच्छिन्न हैं, इससे भी वे कार्य हैं। जैसे घटादि परिच्छिन्न और कार्य हैं। और-

समन्वयात् ॥१३१॥ १३१

समन्वय से (भी महादादि कार्य हैं) ॥

कारण के गुणों का कार्य में अन्वय= समन्वय कहता है। महादादि में सत्वादि कारणों के गुण आते हैं, इससे भी महादादि कार्य हैं जैसे घटादि में मृदान्तादि कारण के गुण पाये जाते हैं, जैसी मिट्टी होगी, वैसा ही उससे घट बनेगा, जैसी चांदी या सुवर्ण होगा वैसे ही उससे कुण्डालादि भूषण बनेंगे।

ऐसे ही रजोगुण से राजसी (बुद्ध महत्) आदि बनते हैं तमोगुण से तामसी और सत्व गुण से सात्विकी। इस से भी महत्तत्व (बुद्धि) आदि का कार्यत्व सिद्ध है। और-

शक्तितश्चेति ॥१३२॥ १३२

शक्ति से भी (महादादि कार्य हैं) ये कार्यत्व के हेतु समाप्त हुए महदादि में प्रकृति से न्यून शक्ति है, क्योंकि प्रत्येक कारण में कार्य से न्यूनशक्ति होती है मृत्तिकादि कारण अनेक घटादि बनने की शक्ति रखते हैं, कारण कि एक देश एक कार्य को बना सकता है पर कार्य का एक देश तो क्या समस्त कार्य भी कारण

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को पूर्ण नहीं कर सकता। इस न्यूनशक्ति से भी पाया जाता है कि प्रकृति बहुत है, तदपेक्षया महत्तत्वादि अल्प होने से अल्प शक्ति वाले हैं अतएव कार्य हैं। सूत्र में इति शब्द इसलिये हैं कि महदादि के कार्यत्व सिद्ध करने के जितने हेतु देने थे पूरे हो गये।

यदि कहो कि महदादि के कार्यत्व सिद्ध करने की क्या आवश्यकता थी, क्यों इतने हेतु देकर उनके कार्यत्व साधने में श्रम किया? तो उत्तर–

तद्धाने प्रकृतिः पुरुषों वा ॥१३३॥ १३३

उस कार्यत्व की हानि में प्रकृति या पुरुष (मानना पड़ेगा)।

यदि महत्तत्वादि को कार्यत्व न सिद्ध किया जाता तो ये महत्तत्वादि भी या तो परिणामी होते तो प्रकृति होते और अपरिणामी होते तो पुरुष। क्योंकि कारण तो दो ही हैं, प्रकृति और पुरुष। महत्तत्वादि भोग्य हैं और विनाशी हैं अतः इनको प्रकृति या पुरुष नहीं मान सकते। इसलिये कार्यत्व सिद्ध करना आवश्यक था।।133।।

यदि कहो कि कार्य कारण दोनों से विलक्षण मान लिया जाता तो क्या हानि थी? तो उत्तर–

तयोग्न्यत्वे तुच्छत्वम् ॥ १३४ ॥ १३४

उन दोनों से अन्य हों तो तुच्छता (होगी)।

यदि महदादि को प्रकृति पुरुष से भी अन्य माना जाए और कार्य भी न माना जाए तो तुच्छ (कुछ नहीं) मानना पड़ेगा। क्योंकि कार्य-कारण को छोड़कर कोई पदार्थ कुछ हो नहीं सकता।

इस प्रकार महदादि को कार्यत्व सिद्ध करके अब कार्य से कारण का अनुमान जो पहले नहीं कहा, कहते हैं–

कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥१३५॥ १३५

कार्य से कारण का अनुमान होता है उस (कार्य) के साहित्य से कार्य सदा कारण सहित होता है इस साहित्य हेतु से कार्य (महदादि) से कारण (प्रकृति) का अनुमान होता है, क्योंकि कार्य कारण से पृथक नहीं होता।।135।। कारण कैसा है सो बताते हैं–

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् ॥१३६॥ १३६

त्रिगुण लिंग से (प्रकृति अव्यक्त।।

महत्तत्वादि जो त्रिगुणात्मक कार्य हैं वे व्यक्त या स्थूल हैं और प्रकृति इनसे सूक्ष्म है इसलिये उसका दूसरा नाम अव्यक्त है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि कहो कि जब व्यक्त (प्रकट) नहीं तब उस अव्यक्त प्रकृति के होने में प्रमाण ही क्या है? कोई कह सकता है कि प्रकृति कोई वस्तु नहीं? उत्तर-

तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥१३७॥ १३७

उस (प्रकृति) के कार्य (महतत्वादि से) उसकी सिद्धि होने से आपलाप (खण्डन या असिद्धि) नहीं हो सकती।

सामान्येन विवादाऽभावार्मवन्न साधनम् ॥ १३८ ॥ १३८

सामान्यत: विवाद न होने से (पुरूष का) सिद्ध करना (आवश्यक) नहीं, जैसे धर्म विषय में।

पुरुष को सामान्यत: सभी मानते हैं इस में कुछ विवाद नहीं अत: उसकी सिद्धि में यत्न करना आवश्यक नहीं। जैसे धर्म सामान्य में विवाद नहीं, सभी धर्म को मानते हैं। परन्तु सामान्यत: विवाद न होने पर भी विशेषत: विवाद है। कोई देह को पुरुष मानते हैं, कोई बुद्धि को, कोई अन्त:कारण को, इत्यादि शंका निवारण के लिये पुरुष को देहादि से पृथक् निरूपणार्थ कहते हैं कि-

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥ १३९ ॥ १३९

शरीर (मन बुद्धि) आदि से पुरुष भिन्न है। क्योंकि

संहतपरार्थत्वात् ॥१४०॥ १४०

संहतों (प्रकृति महदादि) के परार्थ होने से (पुरुष इन से भिन्न है)।

इसी अध्याय के सूत्र (66) 'संहतपरार्थत्वात्पुरुषस्य' में यही हेतु दे चुके हैं और उसकी व्याख्या हम वहां कर आये हैं, यहां प्रसंग आ जाने से पुन: वही हेतु फिर देना पुनरूक्ति दोष नहीं। दूसरा हेतु यह है-

त्रिगणुा दिविपर्ययात् ॥ १४१॥ १४१

त्रिगुणादि के विपरीत होने से (भी पुरुष भिन्न है)।

शरीरादि त्रिगुणात्मक हैं, अचेतन हैं, अविवेकी हैं, पुरुष इसके विपरीत त्रिगुण रहित, चेतन, विवेकी इत्यादि विशेषण विशिष्ट है, अत: वह शरीरादि से अतिरिक्त है। तीसरा हेतु यह है कि-

अधिष्ठानाच्चेति ॥ १४२ ॥ १४२

अधिष्ठाता होने से (भी पुरुष देहादि से भिन्न है) इति।।

पुरुष देहादि पर अधिष्ठाता है, अत: वह स्वयं भिन्न है।

इति शब्द इस विषय के हेतुओं की समाप्ति के सूचनार्थ है। अब अधिष्ठाता होने में हेतु देते हैं-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भोक्तभावात् ॥ १४३ ॥ १४३

भोक्ता होने से (पुरुष अधिष्ठाता है)। और-

कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च ॥ १४४ ॥ १४४

मोक्ष के लिये प्रवृत्ति होने से भी पुरुष अधिष्ठाता है।

यदि पुरुष अधिष्ठाता न होता तो देह रूप होने से देह को छोड़कर मोक्ष की इच्छा न करता। इच्छा करता है, इससे पुरुष देहादि का अधिष्ठाता है, देहादि नहीं।

जड़प्रकाशाऽयोगात्प्रकाशः ॥ १४५ ॥ १४५

जड़ में प्रकाश (ज्ञान) के अयोग से पुरुष प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है ।

अथवा जड़ प्रकाश (भौतिक प्रकाश) के योग न होने से पुरुष अभौतिक या अप्राकृत प्रकाश (ज्ञान) रूप है। और

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥ १४६॥ १४६

निर्गुण होने से (पुरुष) चिद्धर्म्मा (चति्) नहीं है।।

पुरुष निर्गुण है, उसके सत्व, रजस्, तमस् नहीं अतः चित्त आदि के समान चेतनता के आभास रूप धर्मवाला नहीं, किन्तु चिद्रूप या ज्ञान रूप ही है।

यदि कहो कि 'मैं जानता हूं' इत्यादि व्यवहार से चित्त के धर्मो को पुरुष में देखते हैं तब वह निर्गुण कैसे हो सकता है? तो उत्तर-

श्रुत्या सिद्धस्य नाऽपलापस्तत्प्रत्यक्षबोधात् ॥ १४७॥ १४७

श्रुति से सिद्ध (निर्गुणत्व) का अपलाप (खण्डन) नहीं हो सकता, उसका प्रत्यक्ष से बोध होने पर भी।

यद्यपि प्रत्यक्ष में पुरुष ऐसा व्यवहार करते हैं कि मैं कृश हूं, मैं मोटा हूं, गोरा हूं, काला हूं इत्यादि तथापि यह कथन अविवेक से प्रत्यक्ष में सुनने कहने में आ रहा है, इतने से असंगोह्यऽयंपुरुषः बृहदारण्यक उपनिषद् अ० 6। ब्रा० 3।15 इत्यादि श्रुति प्रतिपादित निर्गुणत्व का खण्डन नहीं कर सकते। क्योंकि

संषुप्त्याद्यऽसाक्षित्वम् ॥ १४८ ॥ १४८

सुषप्त्यादि का साक्षी होना न बनेगा।।

यदि पुरुष असंग निर्गुण न हो तो सुषुप्ति गहरी नींद सोकर उठकर जो कहता है कि 'सुखमहमस्वाप्सम्' मैं सुख से सोया। इत्यादि साक्षीपना पुरुष में न बनेगा। क्योंकि सुषुप्ति आदि में गुण तो लीन हो जाते हैं।

जन्मादिस्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥ १४९ ॥ १४९

जन्म आदि व्यवस्था से पुरुष बहुत हैं, (ऐसा सिद्ध होता है)।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

एक देह को त्याग कर दूसरे देह में जाने से पुरुष के जन्म-मरण का व्यवहार है, यदि पुरुष एक विभु सर्वव्यापक होता तो देह से निकलना, आना-जाना आदि व्यवस्था न होती। होती है इससे पाया जाता है कि पुरुष अनेक असंख्य हैं, एक नहीं। पूर्वपक्ष-

उपाधिभेदेप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ॥ १५० ॥

उपाधि भेद में एक को भी अनेक (नाना) पन हो सकता है, जैसे घटादि (उपाधियों) से आकाश को॥

अर्थात् जैसे आकाश एक है, पर घट, पट, मठ आदि उपाधि भेद से घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश इत्यादि बहुत्व आकाश में हो सकते हैं, वैसे ही एक पुरुष भी अनेक अन्तःकरणोपाधिभेद से बहुत माने जा सकते हैं, तब जन्मादि व्यवस्था से भी पुरुष बहुत्व मानना ठीक नहीं। उत्तरपक्ष-

उपाधिभिद्यते, न तु तद्वान् ॥ १५१॥ १५१

उपाधि भिन्न-भिन्न होती है, न तु उपाधिमान्॥

उपाधिकृत भी पुरुष को बहुत्व नहीं बन सकता, क्योंकि उपाधि अनेक होने पर भी उपाधिमान् पुरुष तो एक ही रहा, फिर एक में किसी का जन्म, किसी का मरण इत्यादि व्यवस्था कैसे बनेगी? अतः जन्म मरणादि व्यवस्था बहुत पुरुष मानने पर ही ठीक हो सकती है।

आजकल जो नवीन वेदान्ती लोग उपाधिकृत ब्रह्म को जीवत्व और अनेकत्व बताया करते हैं, उसका खण्डन इन सूत्रों में भली प्रकार हो गया है। कोई कोई लोग कहा करते हैं कि वास्तविक वेदान्त में तो जीव ब्रह्म की एकता या अभेद ही है स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने खींचतान से भेद बताया और उन बेचारे वेदान्तियों को नवीन वेदान्ती कह दिया है। परन्तु हम देखते हैं कि 'विज्ञानभिक्षु' जी ने भी इन सूत्रों के सांख्य प्रवचन भाष्य में ऐसे अभेदवादी एकान्तवादी वेदान्तियों को 'नवीन वेदान्ती' कहकर उनका खण्डन किया है। यथा-

यदपि केचित् नवीना वेदान्ति बुवा आहुः-एकस्यैवात्मनः कार्यकारणोपाधिषु प्रतिबिम्बानि जीवेश्वरोःप्रति-बिम्बानांचाऽन्योन्यं भेदाज्जन्माद्यखिल-व्यवहारोपपत्तिः तदप्यसत्।

जो कि कोई अपने को वेदान्ती कहने वाले 'नवीन' कहते हैं कि एक ही आत्मा के कार्य कारण उपाधियों में प्रतिबिम्ब=जीव ईश्वर हैं और प्रतिबिम्बों में आपस में भेद होने से जन्मादि सब व्यवहार सिद्धि है, यह भी 'असत्' है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आगे विज्ञानभिक्षु जी ने इस मत के असत् होने में हेतु दिये है और लम्बा व्याख्यान किया है जो ग्रंथ बढ़ने के भय से हमने उद्धृत नहीं किया, केवल यह दिखला दिया है कि स्वामी दयानन्द से पहले भी विज्ञानभिक्षु जैसे लोग इनको नवीन वेदान्ती बता गये और इनके एकात्मवाद का खण्डन कर गये हैं।

एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्ध धर्माध्यासः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार एक भाव से सर्वत्र वर्तमान (पुरुष) को विरुद्ध धर्मों का अभ्यास नहीं बन सकता।।

अर्थात् यदि पुरुष एक ही हो तो फिर कोई पुरुष सुखी कोई दुःखी इत्यादि परस्पर विरुद्ध धर्मों का व्यवहार जो प्रत्यक्ष देखा जाता है, नहीं बन सकता। तब बहुत पुरुष मानना ही ठीक है।

यदि कहो कि सुख-दुःखादि बुद्धि के धर्म पुरुष में आरोपित मात्र हैं, वास्तविक नहीं, इस कारण एक पुरुष मानने में क्या दोष है? तो उत्तर-

अन्यधर्मत्वेऽपि नाऽऽरोपात्तत्सिद्धिरेक- त्वात् ॥ १५३॥

अन्य का धर्म होने पर भी आरोप से उस (सुखी-दुखीपन) की सिद्धि नहीं, एक होने से।

यदि सुख दुखादि को अन्य का धर्म अर्थात् बुद्धि का धर्म ही माना जाए और पुरुष में केवल आरोपमात्र से सुख-दुख माने तो भी विरुद्ध धर्मों (सुख-दुःखादि को) की व्यवस्था न बनेगी क्योंकि (एकत्वात्) आरोप का अधिष्ठान (पुरुष) एक होने से इस विषय में श्रीमान स्वतन्त्रचेता विज्ञानभिक्षु का प्रवचन भाष्यांश देखने योग्य है। वे कैसा स्पष्ट अद्वैतवाद का खण्डन करते हैं कि-

इमां बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्ति सूक्ष्मामऽबद्- ध्वैवाऽऽधुनिका वेदान्तिब्रुवा उपाधिभेदेन बन्धमोक्षव्यवस्थामैकात्म्येऽप्याहुस्तेऽप्यऽनेन निरस्ताः। येऽपि तदेका देशिनइमामेवाऽनुपपत्ति पश्यन्त उपाधिगतचित्प्रतिबिम्बानामेवबन्ध दीन्याहुस्तेत्वतीवभ्रान्ताः। उक्ता द्भेदाभेदादिविकल्पोऽसहत्वात्। अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वादित्यत्रोक्तदोषाच्च। किंच वेदान्तसूत्रें क्वापि सव त्मनामत्यन्तैक्यमोक्तमस्ति, प्रत्युत-भेदव्यपदेशाच्चान्यः। अधिकंतु भेदनिर्देशात् 'अशो नानाव्यपदेशात् इत्यादिसूत्रैर्भेदउक्तः। अत आधुनिकानाम वच्छेदप्रतिबिम्बादिवादौ अपसिद्धान्ता एव। स्वशास्त्राऽक्तसंदिग्ध र्थेषुसमानमन्त्रसिद्धान्तस्यैव- सिद्धान्तत्वाच्चेत्यादिकब्रह्ममीमांसाभाष्ये प्रतिपादित- मस्माभिः। (सांख्यप्रवचन काशी भारत जीवन प्रेस सं० १९४६)

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तात्पर्य-इस बन्ध मोक्षादि व्यवस्था की असिद्धि को जो सूक्ष्म है न जान कर ही नवीन आधुनिक वेदान्तिध्रुव लोग एकात्मवाद में भी उपाधि भेद से बन्ध मोक्ष व्यवस्था कहते हैं। वे लोग भी इस (सूत्रोक्तहेतु) से निरूत्तर हुए और जो उनके एक देशी लोग इसी अनुपपत्ति को देखते हुए, उपाधिगत चित्प्रतिबिम्बों को बन्ध मोक्षादि कहते हैं वे तो अत्यन्त भ्रम में हैं। उक्त भेद-अभेद आदि विकल्पों को न सहार सकने से और अन्तःकरण के उस (चित्) से प्रकाशित होने में भी उक्त दोष से किंच-किसी भी वेदान्त सूत्र में सब आत्माओं को अत्यन्त एकता नहीं कहीं है, प्रत्युत-'भेदव्यप०' 'अधिक तुभेद नि०' अशोनानाव्य०' इत्यादि (वेदान्त) सूत्रों से भेद कहा है। इस कारण आधुनिकों (नवीनों) के अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद इत्यादि वाद अपसिद्धान्त ही हैं। हमने ब्रह्म मीमांसा (वेदान्त) के भाष्य में प्रतिपादन किया है कि अपने शास्त्र में न कहे हुए संदेहयुक्त विषयों में समना शास्त्र का सिद्धान्त ही (अपना) सिद्धान्त होता है इत्यादि।

यदि कहो अद्वैतश्रुतियों से विरोध आएगा? तो उत्तर

नाऽद्वैतश्रुतिविरोधोजातिपरत्वात् ॥ १५४ ॥ १५४

जातिपरक होने से अक्षैत श्रुतियों से विरोध नहीं।

जो श्रुतियां आत्मा या पुरुष के अद्वैत होने का प्रतिपादन करती हैं उनमें आत्मा आत्मा या पुरुष पुरुष सब एक जाति के (एक से) एकत्व या अद्वैत कहा है, स्वरूप से एकत्व या अद्वैत नहीं। इस कारण पुरुष नानात्व में उन अद्वैत श्रुतियों का विरोध नहीं आता। देखना चाहिए कि सांख्याचार्य श्री कपिल मुनि श्रुति विरोध (वेदविरोध) का कैसा परिहार करते हैं जिससे उनकी वेदों पर श्रद्धा और आस्तिकता कैसी स्पष्ट प्रकाशमान है। इस पर भी जो सांख्यकार को नास्तिक (वेदनिन्दक) कहते हैं वे कितनी बड़ी भूल करते हैं। इस सूत्र का भी अन्य इस अकरणोक्त सूत्रों के अनुसार यही तात्पर्य है इस बात को विज्ञानभिक्षु का प्रवचन भाष्य और भी स्पष्ट करता है देखिये-

नत्वेवं पुरुषनानात्वे सति-

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥ १॥
नित्यः सर्वगतों ह्यात्मा कूटस्थों दोषवजितः।
एकः स भिद्यते शक्तया मायया न स्वभावतः ॥ २॥

इत्याद्याः श्रुतिस्मृतय आत्मैकत्वप्रतिपादिका नोपपद्यन्ते तत्राह-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

'नाद्वैतश्रुतिविरोधो' आत्मैक्यश्रुतीनां विरोधस्तु नास्ति, तासां जातिपरत्वात्। जातिः सामान्यमेकरूपत्वं, तत्रैवाद्वैतश्रुतीनां तात्पर्यात् न त्वऽखण्डत्वे, प्रयोजनाऽभावादित्यर्थः। जातिशब्दस्य चैकरूपार्थकत्वमुत्तरसूत्राल्लस्यते। यथा श्रुतजातिशब्दस्यादरे-'आत्मा इदमेक एवाऽग्र आसीत्। सदैव सौम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाऽद्वितीयम्'। इत्याद्याऽद्वैतश्रुत्युपपदकतयैवसूत्रं व्याख्येयम जातीपरत्वात् विजातीयद्वैतनिषधपरत्वादित्पर्थः।

(इत्यादि)

तात्पर्य-शङ्क, इस प्रकार पुरुष बहुत मानने पर एक एव हि भू०' इत्यादि श्रुति स्मृतियां जो आत्मा (पुरुष) के एकत्व का प्रतिपादन करती है, न घटेगी? इसमें उत्तर- (नाऽद्वैत०) आत्मा के एक भाव वाली श्रुतियों का विरोध तो नहीं है, क्योंकि वे जातिपरक हैं। समानता, एकरूपता=जाति के उसी में अद्वैत श्रुतियों का तात्पर्य है, अखण्डत्व में नहीं, क्योंकि अखण्डता के प्रतिपादन का वहां प्रयोजन नहीं। जाति शब्द का एकरूपता अर्थ है यह अगले सूत्र (विदितबन्ध० 155) से प्राप्त होता है, इस यथा श्रुत जाति शब्द के आदर में 'आत्मइद०' 'सदैव सौ०' 'एकमेवाद्वि' इत्यादि श्रुतियों की उपत्ति करते हुए ही सूत्र की व्याख्या करनी युक्त है, जातिपरक होने से अर्थात् विजातीय द्वैत के निषेध मात्र में तात्पर्य होने से।

इत्यादि विज्ञानभिक्षु जी ने भी विस्तार में लिखा है जिसमें से थोड़ा हमने यहां उद्धृत किया है। यद्यपि विज्ञानभिक्षु की इस अंश में हम सहानुभूति या पुष्टि नहीं करते कि जो श्रुतियां उन्होंने लिखी है वे वास्तव में श्रुति ही हैं या नहीं, अथवा उनमें जातिपरक अद्वैत प्रतिपादित ही है या नहीं। क्योंकि हमारी समझ में तो इन वचनों में परम पुरुष परमात्मा का एकत्व प्रतिपादित है जो कि सजातीय भेद से भी शून्य है। परन्तु हमने इस प्रवचनभाष्य को इस अंश में पोषक देख कर प्रस्तुत किया है कि अद्वैत ब्रह्मवादि नवीन या आधुनिक वेदान्ती जो सांख्य शास्त्र को नास्तिक कहते हैं और अभिन्न निमित्तोपादान कारण केवल एक ब्रह्म ही को वस्तु और तदन्य सब जगत् और पुरुषों (जीवात्माओं) को भी मिथ्या कहा करते हैं वे लोग विज्ञानभिक्षु जी से ही शिक्षा लेकर अपना आग्रह या हठ छोड़ें। हमारे मत में तो-

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ यजुः४० ॥ ७ ॥

इत्यादि श्रुतियों में जो पुरुष का एकत्व कहा है, उसको जातिपरक कहने में सूत्र का तात्पर्य है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम् ॥ १५५॥ १५५

जिसने बन्ध का कारण (अविवेक) जान लिया उसकी दृष्टि से पुरुषों का एक रूप है।

अर्थात् विवेकी पुरुष अन्य सब पुरुषों की चेतना को एक सी जानता हुआ सब तद्रूप=एकसापन को जानता है।

यदि कहो कि तद्रूपता होती तो सबको प्रतीत होती? तो उत्तर-

नन्धोऽदृष्ट चक्षुष्मतामनुपलम्भः ॥ १५६॥ १५६

अन्धों को न दिखने से समाखों को अनुपलब्धि नहीं होती।

यदि विवेक चक्षुरहित अविवेकियों को पुरुषों की तद्रूपता नहीं दिखती तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विवेक को आंखों वाले समाखों को भी तद्रूपता की उपलब्धि न हो। इस सूत्र का पाठ कई पुस्तकों में 'नान्धदृष्ट्या' और कई में 'नान्धाऽदृष्ट्या' देखा गया, अतः हमने दूसरे पाठ को ही अच्छा समझ कर आदर दिया है।

वामदेवादिमुक्तोनाऽद्वैतम् ॥ १५७॥ १५७

वामदेव आदि मुक्त हुआ इस से अद्वैत नहीं रहा।

यदि पुरुष अद्वैत होता=एक ही पुरुष होता तो यह न कहा जाता कि वामदेवादि की मुक्ति हुई। क्योंकि तब तो 1 वामदेव की मुक्ति में सबकी ही मुक्ति हो जाती है।

यदि कहो कि अभी तक वामदेवादि किसी की मुक्ति नहीं हुई ऐसा मानने में क्या हानि है? तो उत्तर-

अनादावद्ययावदऽभावाद्भविष्यदप्येवम् ॥ १५८॥ १५८

अनादि (काल) से अब तक (किसी की मुक्ति) न होने से भविष्यत् (काल) भी ऐसा ही होगा।

जब कि अनादिकाल से अनेक सृष्टि और प्रलयों में आज तक किसी वामदेवादि की मुक्ति न हुई माने तो भविष्यत् में भी क्या होना है इससे तो मुक्ति का सदा अभाव आएगा? अतः यह ठीक नहीं कि वामदेवादि किसी की मुक्ति अब तक नहीं हुई और इसलिये यह भी ठीक नहीं कि पुरुष एक ही है किन्तु यही ठीक है कि पुरुष अनेक हैं और उनमें से वामदेवादि कई मुक्त हो गये, शेष बन्ध में हैं।

यदि कहो कि अनेक पुरुष मानने में भी यही दोष आएगा कि अनादिकाल से अनन्तकाल तक मुक्ति होते हुए समय आएगा कि संसार का सर्वथा उच्छेद हो

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जाए, सब के मुक्त होने पर संसार कैसे रहेगा? तो उत्तर–

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥१५९॥ १५९

जैसे अब तक (संसार का) अत्यन्तोच्छेदन हुआ वैसे सब कालों में न होगा।

यदि मुक्त पुरुषों की पुनरावृत्ति न होती तो आगे भविष्यत् में ही क्यों? अभी संसार का उच्छेद हो जाता, क्योंकि अनादिकाल प्रवाह में सब मुक्त हो जाते । परन्तु अब तक उच्छेद नहीं हुए, इससे अनुमान होता है कि सब कालों में अत्यन्तोच्छेद कभी नहीं हुआ, न है, न होगा। पाठक यह देखकर अत्यन्त चकित होंगे कि विज्ञानभिक्षु जी कैसा स्पष्ट कहते हैं कि–

'सर्वत्र काले बन्धस्यात्पन्तोच्छेदः कस्यापिपुसो नास्ति।

सब काल में बन्ध को अत्यन्तोच्छेद किसी भी पुरुष का नहीं होता ।।159।

यदि कहो कि पुरुषों की मुक्ति को व्यवस्था करने वाला कौन है, जिसने संसार चक्र चलाया है जिसका उच्छेद कभी नहीं होता, तो उत्तर–

व्यावृत्तोभयरूपः ॥१६०॥ १६०

उभय (दोनों=बद्ध मुक्त) रूपों से विलक्षण भिन्न स्वरूप (ईश्वर) है।

साक्षात्संबन्धात्साक्षित्वम् ॥१६१॥ १६१

साक्षात् संबन्ध से साक्षित्व है।

वह बद्ध पुरुषों और मुक्त पुरुषों दोनों से साक्षात् व्याप्य व्यापक संबध से केवल साक्षी है, जैसा कि ऋग्वेद 1।164।20 में कहा है कि–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्तःपिप्लस्वाद्वात्यऽनश्नन्नऽन्यो अभिचाकशोति॥

दो सुन्दर शुद्ध चेतन स्वरूप, साथी व्याप्य संबन्ध युक्त, परस्पर मित्र, अनादित्य में समान वृक्ष=छेद्य भेद्य परिणामी अव्यक्त प्रकृति के साथ लिपटे रहने वाले जीव ईश्वर हैं, उन दोनों में से 1 जीवात्मा प्रकृति=वृक्ष के स्वादु फल भोगता है और दूसरा ईश्वर अभोक्ता केवल साक्षी मात्र है। और–

नित्यमुक्तत्वम् ॥१६२॥ १६२

नित्य मुक्तत्व है।

परमेश्वर को नित्यमुक्ति है अन्य पुरुषों की मुक्ति तो समय विशेष में होती है, मुक्ति की प्राप्ति से पूर्व बन्ध कोटि में है, परन्तु ईश्वर नित्य मुक्त है, वह बद्ध से मुक्त नहीं हुआ है।

औदासीन्य चेति ॥१६३॥ १६३

और उदासीनता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उस की उदासीनता ही नित्यमुक्तता का हेतु है, यदि वह जगत् के फल भोगों में सक्त होता तो नित्यमुक्त न रह सकता परन्तु उदासीन होने से न उसको राग है न द्वेष है।

यदि कहो कि राग के बिना परमेश्वर जगत् का कर्त्ता कैसे हो सकता है? तो उत्तर-

उपरागात्कर्तृत्वं चित्सांनिध्यात् चित्सान्निध्यात् ॥१६४॥

उपराग से कर्तापन है, चित्सांनिध्य से।

जीवात्मा पुरुषों और प्रकृति में व्यापक होने से परमेश्वर का उपराग इनमें है, बस उपराग मात्र से उसे कर्त्तापन है। यदि कहो कि उपराग तो साकार पदार्थों में प्रायः देखा जाता है, परमेश्वर तो निराकार है, उसका उपराग कैसे हुआ तो उत्तर यह है कि ईश्वर की चेतनता की व्यापकत्व से समीपता होना ही उपराग जानिये। जैसे सूर्य की धूप के सांनिध्य मात्र से कोई वृक्ष, वनस्पति, औषधि उगते, कोई सूखते, कोई फलते, कोई फूलते हैं, परन्तु सूर्य को किसी से रागद्वेष नहीं है, न सूर्य किसी को द्वेष से सुखाता, न किसी को राग से उगाता, फुलाता, फलाता है, सब अपने अपने स्वगतभेद भिन्न परिणामों के अनुसार आगे-आगे परिणत होते जाते हैं, वैसे भी पुरुष भी अपने-अपने कर्मानुरूप फल भोगार्थ तैयार हुए अपने-अपने कर्मों से प्रेरित हुए ईश्वर के व्यापकत्वरूप सांनिध्यमात्र से भिन्न-भिन्न विलक्षण फल भोगने को जगत् में नाना नाम रूपों को धारण करते हुए घूमते हैं। इसमें ईश्वर को कर्तृत्व मानते हुए भी उदासीनता से रागद्वेषादि दोष नहीं लगते।

सूत्र 160 से 164 तक अन्तिम 5 सूत्रों को अन्य टीकाकारों ने पुरुषों (जीवात्माओं) पर लगाया है, परन्तु सूत्रों में आये हुए नित्य मुक्तादि विशेषणों से बहुत स्पष्ट है कि ये सूत्र ईश्वर का ही वर्णन करते हैं।

अध्याय समाप्तिसूचनार्थ 'चित्सांनिध्यात्' पद दो बार रखा गया है।

हेयहाने तयोर्हेतू इति व्यूह्ययथाक्रनम्।
चत्वारः स्त्रमुख्यार्था अध्यायेस्मिन्प्रपश्चिताः ॥ १॥

1 हेय, 2 हान, 3 हेय हेतु, 4 हान हेतु इस व्यूह से क्रमपूर्वक इस अध्याय में शास्त्र के चार मुख्यार्थ कहे गये।

■■■

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ द्वितीयोऽध्यायः

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रथमाऽध्याय में प्रकृति, उसके कार्य महत्तत्वादि पुरुष=जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन करके द्वितीय अध्याय में प्रकृति का परमेश्वराधीनत्व, जीवात्माओं के भोग मोक्षार्थ होना और अन्य तत्वों का कुछ विस्तार से वर्णन आरम्भ करते हैं। वक्ष्यमाण प्रथम सूत्र में प्रथमाध्याय के अन्तिम सूत्र से कर्तृत्वम् पद की अनुवृत्ति है-

विमुक्तमोक्षार्थ स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥ १॥ (१६५)

प्रकृति का (कर्त्तृत्व) पुरुष की मुक्ति के लिये है या अपने लिये?

प्रथमाध्याय के अन्त में जो कहा था कि चित्सांनिध्य से प्रकृति में कर्तृत्व है, उस पर पूछते हैं कि प्रयोजन क्या है, जगत् क्यों रचा जाता है? जीवों की मुक्ति के लिये या प्रकृति के अपने लिये? उत्तर-

विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥ २॥ (१६६)

विरक्त को उस (मोक्ष) के सिद्ध होने से।

रागरहित पुरुष को ही मोक्ष संभव है, अतः पुरुष की मुक्ति के लिये प्रकृति से जगत् रचा जाता है। लोग पूछेंगे कि जगत् के जन्म मरणों से छूटने का नाम तो मुक्ति है, फिर जगत् की उत्पत्ति को जीवों के मोक्ष के लिये बताया तो उल्टी बात हुई? उत्तर- नहीं, जीव अपने कर्मों को भोगकर ही मोक्ष पा सकते और कर्मों का भोग अर्थात् कर्म फलों का भुगतान सृष्टि के उत्पन्न होने से ही हो सकता है, अतः सृष्टि की उत्पत्ति वास्तव में भोग और मोक्ष दोनों का साधन है, यदि पुरुष सृष्टि में आकर पूर्व कर्मों का फल भोगकर मुक्ति पाने का यत्न करें तो।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मृत्य: (पु) = नौकर, मन्त्री

ऐसा ही योग दर्शन 2।18 में (प्रकाशक्रि० भोगापवर्गार्थं दृश्यम्) कहा है।

यदि कहो कि सृष्टि की उत्पत्ति यदि मोक्ष के लिये होने से मुक्ति का कारण है तो एक बार की ही सृष्टि से सब जीवों के भोग मोक्ष सिद्ध हो जाते, पुनः सृष्टि क्यों होती है? तो उत्तर-

न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्वात् ॥३॥ (१६७)

अनादि वासना के बलवती होने से केवल श्रवण से उस (मोक्ष) की सिद्धि नहीं हो सकती।

अनादि वासना जो वैराग्य को रोकने वाली है वह बलवती है इसलिये केवल श्रवण मात्र से एक बार में सब को पर वैराग्य उत्पन्न नहीं होता कि हम केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगकर निबट जाएं और सबके सब एक साथ एक ही सृष्टि में मुक्ति संपादन कर लें, किन्तु अनेक जन्मों प्रत्युत अनेक सृष्टियों में किये पुण्यों के संचय से कभी कठिन से किसी एक पुरुष को मुक्ति प्राप्त होती है। अतः केवल एक बार की सृष्टि से निपटारा या छुटकारा नहीं मिल सकता। अथवा-

बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ॥ ४ ॥ (१६८)

बहुभृत्य वाले के समान प्रत्येक (जानो)

जैसे एक गृहस्थ के स्त्री पुत्रादि भरण पोषण योग्य बहुत भुत्य हों तो वह एक एक का भरण पोषण करे तब भी बहुत सा भोजन वस्त्रादि चाहिये। इसी प्रकार जीवात्मा बहुत हैं और एक प्रकृति से सृष्टि रचकर उन जीवात्माओं में से प्रत्येक को भोग मोक्ष का अवसर देना है, इसलिये एक बार की सृष्टि सब जीवात्माओं के भोग मोक्ष को पर्याप्त नहीं हो सकती अतः बार-बार सृष्टि और प्रलय किये जाते हैं।

यदि कहो कि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' तै० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु०1 इत्यादि वाक्यों से तो परमेश्वर का जगत्सृष्टा होना पाया जाता है, तब प्रकृति से जगत रचना मानी जाए? उत्तर-

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥५॥ (१६९)

प्रकृति के वास्तविक (उपादान) मानने पर पुरुष (परमेश्वर) को भी अध्यास (प्रकृति के उपादानत्व में उसके सामीप्य से निमित्तत्व) की सिद्धि है।

वास्तव में तो प्रकृति ही जगत् की सृष्टि (उपादान कारण) है परन्तु अध्यास अर्थात् प्रकृति पर अधिष्ठाता होकर रहना मात्र पुरुष को जगत् का कर्तृव्य सिद्ध करके निमित्त कारणत्व जतलाता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि कहो कि इतनी कल्पना क्यों बढ़ाई जाए, सीधा पुरुष को ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण क्यों न मान लें? तो उत्तर–

कार्यतस्तत्सिद्धेः ॥६॥ (१७०)

कार्य से उस (प्रकृति के उपादानत्व) की सिद्धि से।

कार्य जगत के देखने से गुणत्रयात्मकता पाई जाती है, इससे सत्वरजस्तमोमयी प्रकृति ही उपादान सिद्ध होती है, जैसी कि दूरेसदर्शनकार वैशेषिक में कहते हैं कि 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणोद्दृष्टः' कारण के गुणानुसार कार्य के गुण देखे जाते हैं।

यदि कहो कि प्रकृति जड़ ही जगत् का कारण होता तो सृष्टि में कोई नियम न होते, अन्धाधुन्ध कुछ ही हो जाया करता? तो उत्तर–

चेतनोद्देशान्नियमः कण्ठकमोक्षवत् ॥७॥ (१७१)

चेतन (परमेश्वर) के अभिलाष से नियम है, सूली और छोड़ने के समान।

जैसे दण्ड देने को कण्टक (सूली या फांसी) बनाई जाती है उस का अधिष्ठाता राजा होता है। वह नियमानुसार दण्डयों को सूली पर लटकाता और अदण्डयों को छोड़ देता है, इसी प्रकार प्राकृत भागों में परमेश्वर निमय रखता है जिससे अनियम अन्धाधुन्ध नहीं होने पाता।

क्यों जी! जिस परमेश्वर के अभिलाषमात्र से प्रकृति और उसके सब कार्य नियम में बद्ध रहते हैं उस पुरुष को साक्षात् ही उपादान कारण क्यों न मान लें अन्य प्रकृति आदि का योग क्यों कल्पित करें? उत्तर–

अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जत्येनायोदाहवत् ॥८॥ (१७२)

अन्य (प्रकृति) के योग में भी उस (ईश्वर) के (कर्तृत्व की) सिद्धि साक्षात् भाव से नहीं, किन्तु लोहे में दाह के समान परम्परा से ही होगी।

जैसे लोहा स्वयं दाहक नहीं लेकिन अग्नि के संयोग से दाहक हो जाता है, वैसे ही प्रकृति साक्षात् स्वयं स्वतन्त्र जगत नहीं बना सकती पुरुष के सन्निधा से बनाती है तथा पुरुष भी निर्गुण होने से गुणत्रयात्मक जगत् को अपने में से नहीं बना सकता प्रकृति से ही बनाता है।

सृष्टि किसे कहते हैं? उत्तर–

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥९॥ (१७३)

राग (प्रकृति) और विराग (पुरुष) के संयोग का नाम सृष्टि है।

अब सृष्टि का क्रम कहते हैं–

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ॥१०॥ (१७४)

महतत्वादि क्रम से भूतों की (सृष्टि) होती है।

आत्मार्थत्वात्सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥११॥ (१७५)

सृष्टि के पुरुषानिमित्तक होने से इन (महदादि) का आरम्भ निज के लिये नहीं।

महत्तत्वादि कार्य अपने लिये आरम्भ नहीं करते किन्तु आत्मा (पुरुष) के लिये करते हैं क्योंकि सृष्टि ही पुरुष के भोग मोक्षार्थ होती है।

यदि कहो कि प्रकृति से पुरुष पर्यन्त 25 पदार्थों के साथ दिशा और काल भी सांख्याचार्य ने क्यों नहीं गिनाये, उनके बिना तो सृष्टि का कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता? तो उत्तर-

दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥१२॥ (१७६)

दिशा और काल आकाशादिकों से (संगृहीत समझो)।

आदि शब्द से आकाश की उपाधियों का ग्रहण है। पूर्व पश्चिमादि दिशा और निमेष घटी दिन मासादि काल, ये दोनों आकाश और आकाश की उपाधियों के अन्तर्गत समझने चाहिये।

जो नित्य दिशा और काल हैं, वे तो आकाश की भी प्रकृति है और प्रधान प्रकृति के गुण विशेष ही समझने चाहिए, उनका यहां वर्णन नहीं किन्तु खण्ड दिशा पूर्वादि और खण्ड काल निमेषादि को यहां आकाश के अन्तर्गत माना है। आकाश जगह अवकाश या स्थान का नाम है, बस पूर्व-पश्चिम आदि शब्दों से भी देश विशेषों का ही ग्रहण होता है, अतः वे देश, जगह या अवकाश या स्थान ही हुए तब उनको आकाश में अन्तर्गत कहना ही चाहिये। इसी प्रकार निमेष दिन मास आदि भी सूर्यचन्द्रादि के उदयादि से नापे जाते हैं और सूर्य, चन्द्रादि पृथिव्यादि के कार्य हैं और वो ही आकाश की उपाधि हैं अतः आकाश और उपाधि पृथिव्यादि में काल का अन्तर्गत मानना ठीक है। जैसा कि वैशेषिक के मत में आकाश से श्रोत्र की उत्पत्ति मानी गई है।

यह सब विज्ञानभिक्ष कृत सांख्य प्रवचन भाष्य का आशय हमने अपने शब्दों में लिखा है, अनुवाद रूप से नहीं।

अब महत्तत्वादि को कार्यतः और लक्षणतः वर्णन करना आरम्भ करते हैं-

अध्यवसायो बुद्धिः ॥१३॥ (१७७)

निश्चयात्मक व्यापार करना बुद्धि का लक्षण है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तत्कार्यं धर्मादि ॥ १४॥ (१७८)

उस (बुद्धि) का काम धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इत्यादि है।

महदुपरागाद्विपरीतम् ॥ १५॥ (१७९)

महत्तत्व (बुद्धि) ही उपराग से उलटी हो जाती है।

जब बुद्धि पर रजस, तमस् की छाया पड़ती है तब विपरीत कार्य अधर्म, अज्ञान अवैराग्य, अनेश्वर्य इत्यादि होने लगते हैं।

अभिमानोऽहंकारः ॥ १६ ॥ (१८०)

अभिमान करना अहंकार का लक्षण है।

एकादशम्चतन्मात्रं तत्कार्यपं ॥ १७ ॥ (१८१)

11 इन्द्रियां और 5 तन्मात्रा उस (अहंकार) का कार्य हैं।

अन्तःकरणचतुष्ठय में मन, बुद्धि, चित्त अहंकार ये 4 वस्तु गिनी जाती हैं, जिनमें से चित्त का वर्णन यहां सांख्याचार्य ने यह समझ कर छोड़ दिया है कि चित्त शब्द जो योगदर्शन में आया है, वह अन्तःकरण मात्र के अर्थ में आया है। तदनुसार समान तन्त्र सांख्य के प्रणेता कपिल मुनि उसको बुद्धि अहंकार और मन इन तीनों का सामान्य नाम समझते जान पडते हैं।

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वेकृतादहंकारात् ॥ १८॥

विकार को प्राप्त (सात्विक) अहंकार से सत्वगुणी 11 इन्द्रियां (मन को मिलाकर) प्रवृत्त होती हैं।

पूर्व सूत्र में कहा था कि 11 इन्द्रियां और 5 तन्मात्रा ये 16 पदार्थ अहंकार के कार्य हैं, उसका विवरण इस सूत्र में ये है कि सत्वगुणी अहंकार सत्वगुणी एकादशेन्द्रियां उत्पन्न होते हैं, परिशेष से यह भी जान लेना चाहिए कि राजस, तामस अहंकारों से विकृत होकर राजस, तामस 11 इन्द्रियां प्रवृत्त होते हैं। इन दोनों सूत्रों में एकादश शब्द आने से कपिल मुनि को 61 वें सूत्र में 'उभयमिन्द्रियम्' पदों से मन सहित 11 इन्द्रियां गिनकर 25 गण की संख्या पूर्ति स्पष्ट इष्ट ज्ञात होती है ॥ 18 ॥ अगले सूत्र में 'एकादश' का अभिप्राय भी आचार्य स्वयं बताते हैं-

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥ १९॥ (१८३)

5-कर्मेन्द्रियों 5- ज्ञानेन्द्रियों सहित 11वां आन्तरिक (मन) है।

1- वाणी, 2- हाथ, 3-पांव, 4-गुदा, 5-शिश्न या उपस्थ, ये 5 कर्मेन्द्रियाँ हैं और 1-आंख, 2-कान, 3-त्वचा, 4-रसना और 5-नासिका, ये 5 ज्ञानेन्द्रियाँ हैं,

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन 10 के साथ 11वां भीतरी इन्द्रिय जो इन बाहरी 10 इन्द्रियों का प्रवर्तक है, वह मन है! इस प्रकार 11 इन्द्रिय बाह्याऽऽभ्यन्तर भेद से हैं। इन्द्रिय नाम इसलिए है कि इन्द्र=अधिकारी पुरुष की इच्छानुसार चलने वाले हैं।

क्योंकि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियां एक एक स्थूल भूत को ग्रहण करता है तब उस उस इन्द्रिय को उस स्थूल भूत का ही कार्य क्यों माना गया, अहंकार का क्यों? उत्तर-

अहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥ २०॥ (१८४)

अहंकार का कार्य होना श्रुति में पाये जाने से भौतिक नहीं।

इन्द्रिय भौतिक नहीं अर्थात् स्थूल भूतों (61 सूत्रोक्त) का कार्य नहीं, क्योंकि 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' मुण्डकोपनिषद् 2।1।3 को श्रुति से पाया जाता है कि अहंकार से प्राण और मन आदि 11 इन्द्रियाँ उत्पन्न होते हैं। न्यायदर्शन में जो भूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति लिखी है, वह स्थूल भूतों से नहीं किन्तु जिस आदि कारण को यहां सांख्य में 'प्रकृति' कहा है उसी आदि कारण को वहां कारा भूतपंचक मानकर उससे इन्द्रियों की उत्पति मानी है इसका विशेष वर्णन (61) सूत्र पर हम यहां भी कह आये हैं।

यदि कहो कि 'अग्नि वा गप्येति। वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम्' बृहदारण्यकोपनिषद् ।1।2।4 के अनुसार अपने 2 कारण देवता में उस 2 इन्द्रिय का लय होना पाया जाता है इस से तो यही सिद्ध होता है कि वाणी इन्द्रिय अग्नि देवता महाभूत का कार्य है, तभी तो अपने कारण अग्नि में लय को प्राप्त होता है इसी प्रकार अन्य इन्द्रियां भी ? इसका उत्तर-

देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ॥ २१॥ (१८५)

अधिष्ठातृ देवों में लय बताने वाली श्रुति आरम्भक (कारण की नहीं है)।

जैसे जल की बूंद पृथ्वी में लीन हो जाती है ऐसे ही (वागादि इन्द्रियाँ) भी अन्यादि में लीन हो जाएं। इतने से यह सिद्ध नहीं होता कि अग्न्यादि का कार्य वागादि है। जल भी तो पृथ्वी का कार्य नहीं परन्तु पृथ्वी में लीन हो जाता है ॥ 21॥

तो फिर इन्द्रियों को नित्य ही क्यों न मान लें? उत्तर-

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥२२॥ (१८६)

उन (इन्द्रियों) की उत्पत्ति श्रुति से और नाश प्रत्यक्ष देखने से (नित्य) नहीं।

'एतस्माज्जायतेप्राणः' इत्यादि श्रुति में इन्द्रियों की उत्पत्ति वर्णित है, और वृद्धावस्था आदि में चक्षुरादि इन्द्रियों का नष्ट होना प्रत्यक्ष देखा जाता है। इन दोनों हेतुओं से इन्द्रियों को नित्य नहीं कर सकते।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठानम् ॥ २३ ॥ (१८७)

इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं, गोलकों को (इन्द्रिय) मानना भ्रान्तों का मत है।

वास्तविक तो चक्षुरादि इन्द्रिय सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ है, परन्तु भ्रम में पड़े लोग अधिष्ठान (गोलक) ही इन्द्रिय हैं, ऐसा मानते हैं।

यदि गोलक इन्द्रिय नहीं हैं, किन्तु सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ कोई अन्य है, जो वास्तविक इन्द्रिय हैं तो फिर इन्द्रियां 5 क्यों मानी जाएं, एक ही 5 गोलक में काम देने वाला क्यों न माना जाए? उत्तर-

शक्तिभेदऽपि भेदसिद्धो नैकत्वम् ॥ २४ ॥ (१८८)

शक्तिभेद मानने में भी भेद सिद्ध रहने पर एकत्व नहीं हो सकता।

यदि केवल एक इन्द्रिय में ही भिन्न-भिन्न पांच शक्तियां मानकर एक-एक गोलक द्वारा 5 का घ्राण रसन दर्शन स्पर्शन श्रवण भेद से माने जावें, तब भी तो भेद सिद्ध रहने पर एक मानना नहीं बना क्योंकि शक्ति 5 हुई तो शक्तिमान् भी 5 ही कल्पना किये जावेंगे।

यदि कहो कि एक अहंकार से अनेक इन्द्रियों की उत्पत्ति की कल्पना बाधि त है, तौ उत्तर-

न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥ २५॥ (१८९)

प्रमाण सिद्ध (वस्तु) का कल्पना विरोध नहीं होता।

5 इन्द्रियें प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध हैं उनमें कल्पना विरोध नहीं आ सकता।

उभयात्मकं मनः ॥ २६॥ (१९०)

मन दोनों (ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियों) का अधिष्ठाता है।

एक अहंकार से 5 भूत कर्मेन्द्रिय, 5 ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि अनेक कार्य कैसे उत्पन्न हो गये? उत्तर-

गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥२७॥ (११९१)

गुणों के परिणाम भिन्न 2 होने से अनेक (कार्य) हो गये जैसे अवस्था।

जैसे एक ही देददत्त देह के परिणाम (क्रमशः बदलते रहने) से अनेक अवस्था बाल्य यौवन वृद्धतादि को प्राप्त होता है ऐसे ही एक अहंकार सत्व रजस् तमस् की मात्राओं के तारतम्य (कमे वे होने) से और परिणाम (अवस्थान्तर प्राप्ति) से अनेक कार्यों (भुतेन्द्रियादिकों) को कारण मानने में कोई बाधा नहीं।

अब ज्ञानेन्द्रियों के कर्मों का भेद बतलाते हैं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रूपादि रसमलान्त उभयो। ॥२८॥ (१९२)

दोनों (इन्द्रियों) के रूपादि और रसमलान्त (काम हैं।

ज्ञानेन्द्रियों का काम रूपादि=रूप, रस गन्ध स्पर्श शब्द का ज्ञान करना है और कर्मेन्द्रियों का काम बोलना, चलना, देना लेना, भोग करना और अन्नरस के मल को त्यागना यहां तक है।

क्यों जी! इन्द्रियों को भी दृष्टा क्यों न मान लें, उनके अतिरिक्त पुरुष या आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है? उत्तर-

द्रष्टत्वादिगत्मनः, करणत्वनिन्द्रियाणाम् ॥२९॥ (१८३)

द्रष्टा, श्रोता, स्पृष्टा, घ्राता और रसयिता होना आत्मा का काम है, और करण=साध न होना इन्द्रियों का काम है।

त्रयाणां स्वालक्षणयम् ॥३०॥ (१९४)

तीनों का अपना 2 लक्षण है।

मन, बुद्धि, अहंकार का लक्षण अपना-अपना भिन्न है, संकल्प करना मन का निश्चय करना बुद्धि का और अभिमान करना अहंकार का लक्षण है। यहां सांख्याचार्य ने स्पष्ट 'त्रयाणाम्' पद से अन्तःकरणत्रितय कहा है तब सांख्य में चित्त शब्द को ढूंढने का श्रम करना सार्थक नहीं होगा । सांख्याचार्य ने तीनों में ही चौथे 'चित्त' को अन्तर्भूत किया जाना पड़ता है।

तीन अतःकरणों का पृथक्-पृथक् लक्षण बता चुके, अब तीनों की सामान्य वृत्ति बताते है-

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्यावायवः पञ्चः ॥३१॥ (१९५)

प्राणादि पांचों वायु अन्तःकरण की सामान्त वृत्ति हैं।

प्राणादि 5 (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान) प्राण के ही भेद हैं, वायु के समान चलने वाला होने से उनको वायु कहा है, इतने से यह न समझ लेना चाहिए कि वे पचस्थूलभूतान्तर्गत वायु का भेद है, वह वायु तो पंच तन्मात्रों का कार्य है। कारण शब्द से कोई तो बुद्धि, मन, अहंकार इन 3 अन्तःकरणों का ग्रहण करते हैं और कोई टीकाकार यहां करण शब्द का अर्थ बहिःकरण 10 इन्द्रिय लेते हैं। कोई 3 अन्तःकरण और 10 बहिकरण सब 13 का ग्रहण करते हैं, परन्तु ठीक यही ज्ञात होता है कि अन्तःकरणों का ही ग्रहण किया जाए क्योंकि 10 इन्द्रियों में तो हाथ पांव भी है, भला फिर कोई मान सकता है कि हाथ की वृत्ति प्राणादि हैं या पांव की वृत्ति प्राणादि है या श्रोत्र की वृत्ति प्राणादि है? कभी नहीं। प्रत्युत

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन्द्रिय व्यापार जब निद्रा में नहीं रहता तब भी प्राणादि पांचों वृत्तियाँ अपना-अपना काम करती हुई जीवन को स्थिर रखती हैं। श्वास, प्रश्वास, रक्त संचार सब होता रहता है। सांख्य प्रवचन भाष्य और महादेव वेदान्ति कृत वृत्ति में भी यही माना है, सांख्यकारिका में भी यही माना है! यथा

स्वालक्षणयं वृत्तिस्त्रयस्य सैपा भवत्यऽसामान्या
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च॥

इसी कारिका को सांख्य प्रवचन में भी उद्धृत किया गया है, कोई लोग यहां वायु शब्द से प्राणादि को वायु का भेद मानते हैं, परन्तु सांख्य प्रवचन में विज्ञानभिक्षु जी इसका खण्डन करते हुए वेदान्त का सूत्र प्रमाण में देते हैं कि-

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ शारीरक २४।१०

इस सूत्र में प्राण के वायुत्व या वायु परिणामत्व का स्पष्ट निषेध है, इसलिये यहां 'वायवः पद से वायु तुल्य चलने वाले अर्थ लेना ठीक है, जिससे एक दर्शन का दूसरे दर्शन से विरोध भी न आएगा। मन का धर्म काम भी है, काम को मनसिज कहते हैं, काम के आवेश से प्राण को क्षोभ होता भी देखा जाता है। इससे भी अन्तःकरण की ही वृत्ति को यहां प्राणादि मानने की पुष्टि होती है। प्राण और वायु के पृथकत्व में प्रमाण (मुण्डकोपनिषद 2 15।3।)

एतस्माज्जायेते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी॥

इस में प्राण से पृथक् वायु को गिनाया है। इसी कारण लिंग शरीर में प्राण की गणना न करने पर भी न्यूनता नहीं रहती, क्योंकि बुद्धि की ही क्रियाशक्ति सूत्रात्मा प्राण कहाती है, वह बुद्धि जब लिंग शरीर में गिना दी गई तो प्राण भी बुद्धि वृत्ति रूप से गिना गया समझना चाहिये। प्राण के अन्तःकरण की वृत्ति मानने में भी उस को वायु कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्राणादि पाचों वायु तुल्य संचारी हैं और वायुदेव से अधिष्ठित हैं। इस कारण उनको वायु नामं दिया गया है, न कि पंचस्थूल भूतांतर्गत होने से।

यदि कहा जाए कि योगदर्शन तृतीय विभूतिपाद् के 39 वें सूत्र (उदानजयोज्जल०) के व्यास भाष्य में तो=

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणदिलक्षणा जीवनम्

इत्यादि द्वारा प्राणादि पांचों को समस्त इन्द्रियों की वृत्ति कहा है तदनुसार यहां भी सामान्यकरण वृत्ति शब्द से समस्त इन्द्रियों की ही वृति क्यों न ली जाए?

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्तःकरण मात्र को वृत्ति क्यों ली जाए? तो उत्तर यह है कि व्यास भाष्य के देखने से ज्ञात होता है कि इससे पूर्व 38वें सूत्र के भाष्य में व्यास देव कह चुके हैं कि-

इन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्ते

इसी आशय को लेकर व्यास जी अगले सूत्र के भाष्य में समस्तेन्द्रिय शब्द से चित्त प्रवृष्ट सब इन्द्रियों को मानकर उस चित्त (अन्तःकरण) की वृत्ति प्राणादि को मानते होंगे तभी निर्दोष संगति लगेगी।

तैत्तिरीय आरण्यक का भाष्य करते हुए सायणाचार्य जी ने पृष्ठ 596 पर इस सूत्र का खण्डन किया है। वह इस प्रकार है कि -

'तथा च सांख्यैरुक्तम्-सामान्या' 'करणवृत्तिः प्राणाद्यावायवः पंच' इति। तस्मान्न तत्वान्तर प्राण इति प्राप्त ब्रूमः-

'प्राणएव ब्रह्मश्चतुर्थः पादः । स वायुना ज्योतिषा भाति इति श्रुत्यन्तरे चतुष्पाद् ब्रह्मापासनप्रसंगेनाध्यात्मि?त्मकमावस्थाऽऽधिदैविकवायोश्चानुग्राह्य अनुग्राहकरूपेण विभेदः स्पष्टमेव निर्दिष्टः। अतो यः प्राणः स वायुरित्येकत्वश्रुतिः कार्यकारणयोरभेदवृत्या नेतव्या। यत्तु 'सांख्यैरुक्तं तदसत् । इन्द्रियाणां सामान्यबृत्यसंभवात्। पक्षिणां तु सामान्य वलनान्येक विधानि पंजरचलनस्यानुकूलानि। न तु तथेन्द्रियाणां दर्शनश्रवणमननादि व्यापारा एकविधः। नरपिदेहचलनानुकूलाः। तस्मात्तत्वान्तरं प्राण इति परिशिष्यते।

इसमें दो हेतु दिये हैं, 1- प्राणएव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति' श्रुति=प्राण ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है, वायु ज्योति से प्रकाशता है। 2- इन्द्रियों की सामान्य वृत्ति सम्भव नहीं। सो ये दोनों ही हेतु पर्याप्त नहीं, क्योंकि इस सांख्य सूत्र के अनुसार अन्तःकरण की सामान्य वृत्ति का नाम प्राण मानते हुए भी प्राण के चतुर्थपादत्व में क्या हानि है? जब हानि नही तब इस सूत्र का खण्डन व्यर्थ है। दूसरा हेतु इसलिये पर्याप्त नहीं, कि सूत्रकार ने करण शब्द पढ़ा है, 'इन्द्रिय' शब्द नहीं। करण का अर्थ अन्तःकरण लेने में (जैसा कि हमने ऊपर भाष्य में दिखलाया है) सायणाचार्य जी का हेतु उड़ जाता है। इस लिये सायणाचार्यकृत सूत्र खण्डन ठीक नहीं।

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥ ३२॥ (१९६)

इन्द्रियवृत्ति क्रम से और युगपत भी होती है।

इन्द्रियां मन के अधीन हैं, मन युगपत् अनेक विषयज्ञान में प्रवृत्त नहीं होता।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अतः इन्द्रियाँ क्रम से (पारी पारी से) प्रवृत होती हैं। इसमें तो विवाद नहीं, यही न्याय वैशेषिकादि अन्य दर्शनों का मत है, परन्तु इस सूत्र में तद्विरुद्र अक्रमशः (एक वारंगी= एक साथ=युगपत्) भी इन्द्रिय वृत्ति होना कहा है, यह विचारणीय है। इसका एक समाधान तो यह है कि साधारणतया देखा जाता है कि मनुष्य पावों से चलता जाता है, साथ ही हाथों से कुछ पकड़े जाता है, आंखों से देखता और कानों से सुनता तथा नाक से मार्ग के सुगन्ध-दुर्गन्ध को सूंघता भी जाता है। मुख में पान है, उसको चखता भी जाता है, वायु के शीतोष्णादि स्पर्श को भी लेता जाता है, इस प्रत्यक्ष सिद्ध बात को कथन करते हुवे सूत्रकार ने युगपत इन्द्रियवृत्ति मानी हो और अन्य दर्शनकारों ने चलना, पकड़ना, देखना, सुनना, सूंघना, चखना, छूना आदि अनेक कामों में मन के अति चपल और शीघ्रवृत्ति होने से शीघ्र 2 सब वृत्तियों को पारी पारी से ही अवकाश देने वाला मानकर क्रमवृत्ति ही माना हो। जैसे नीचे ऊपर सात पान रख कर कोई एक साथ सब को एक सुई से बींध दें तो दोनों बात कही जायेगी। एक यह कि सब पान एक साथ (युगपत्) बिंध गये, इसलिये कि देखने वालों को एक काल में ऊपर का पान बिंधा और नीचे का न बिंधा यह दिखता नहीं, इसलिये सामान्य विचार से युगपत बिंधा कहना ठीक है। दूसरे विचार से समझ में आता ही है कि ऊपर के पान को पार करके पश्चात ही सुई की नोक नीचे के पान में घुस सकती है, तदनुसार यह कहना भी ठीक होगा कि सातों पान क्रम से (पहले ऊपर का, फिर दूसरा नीचे का, फिर तीसरा इत्यादि प्रकार से) बिंधे। बस सांख्यकार सामान्य और अन्य दर्शनकार विशेष कथन करते हों तो इनमें परस्पर विरोध नहीं। दूसरे अन्य दर्शनों में मत को क्रमशः पद से स्वीकर करके उससे अधिक अक्रमशः कहा मानें तो भी विरोध नहीं। विरोध तब होता जब अन्य दर्शनों के मत (क्रमशः) को सांख्यकार न मानते।

तीसरा समाधान विज्ञानभिक्षु के मत से यह है कि विशेष जो इन्द्रियों से होता है वह क्रम से और सामान्य ज्ञान युगपत भी होता है। इस ज्ञान सामान्य को वे 'आलोचन' कहते हुए कारिका का प्रमाण देते हैं कि-

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥१॥

वह पूर्वाचार्यों की एक कारिका और भी उद्धृत करते हैं कि-

अस्ति ह्यलोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
परं पुनस्तथा वस्तुधमैंर्जात्यादिभिस्तथा ॥१॥

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इन्द्रियों से 1 सामान्य ज्ञाननिविकल्प होता है और दूसरा फिर वस्तु के धर्मों और जात्यादि भेदों से सविकल्पक ज्ञान होता है। इससे निर्विकल्प सामान्य ज्ञान युगपत (एक साथ) भी होता है और दूसरा वस्तु धर्मों और जात्यादि भेदों से भिन्न विशेष ज्ञान जो सविकल्प भी होता है वह क्रम से ही होता है। वे (विज्ञानभिक्षु जी) यह भी कहते हैं कि कोई लोग ऊपर के श्लोक का यह अर्थ लगाते हैं कि इन्द्रियों से निर्विकल्प आलोचन ज्ञान ही होता है और सविकल्प केवल मनोजन्य ज्ञान है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि योगभाष्य में व्यासदेव ने विशिष्ट ज्ञान भी इन्द्रियों द्वारा होना ठहराया है और इन्द्रियों से विशेष ज्ञान में कोई बाधक हेतु भी नहीं। वही लोग सूत्रार्थ भी इस प्रकार करते हैं कि बाह्येन्द्रियों से लेकर बुद्धि पर्यन्त की वृत्ति सामान्य से कम से हुआ करती है परन्तु कभी 2 व्याघ्रादि के देखने से भय विशेष में बिजली सी सारी इन्द्रियों में एक साथ ही वृत्ति हो जाती है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहां इन्द्रियों की वृत्तियों का ही क्रमिकत्व और यौग पद्य कहा है, बुद्धि और अहंकार का प्रकरण तक नहीं। इत्यादि।

परन्तु हमारी समझ में कुछ आश्चर्य नहीं कि सांख्याचार्य इस सूत्र में इन्द्रिय शब्द से बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार के करणों का ग्रहण करते हों, या केवल अन्त:करणों का ही ग्रहण करते हों, क्योंकि ऊपर के सूत्र 31 में तो करण शब्द (अन्त:करणपरक) आया ही है, उस से पहले सूत्र 30 में त्रयाणां पद से बुद्धि, अहंकार, मन 3 का वर्णन चला ही आता है और अगले सूत्र 33 में सर्वथा योगदर्शन के प्रथम पादस्थ 5वें सूत्र का ज्यों का त्यों पाठ है। योगदर्शन के 5वें सूत्र में चित्त शब्द की ही श्रनुवृत्ति है, इन्द्रिय शब्द की नहीं। व्यासभाष्य में भी यहां चित्त (अन्त:करण) का ही ग्रहण है, इन्द्रियों का कथन नहीं। तब सांख्य (समानतन्त्र 'सांख्य+योग') में भी वही आशय होना अधिक सम्भव है।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥३३॥ (१९७)

वृत्तियां पांच हैं जो क्लिष्ट-अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं।।

आगे जिन पांच वृत्तियों को गिनावेंगे, वे प्रत्येक दो प्रकार की हैं। जो कर्माशय के समूह (ढेर) करने का क्षेत्र (खलिहान) है। वे क्लिष्ट और जो केवल आत्मचिन्तन में लगी हुई सत्व, रज, तम तीनों गुणों के अधिकार का विरोध करती है वे अक्लिष्ट कहलाती है वे क्लेशदायक प्रवाह में पड़ी भी अक्लिष्ट है। दु:खद छिद्रों में सुखदा और सुखद छिद्रों (विघ्नों) में दु:खदा हो जाती है। इस प्रकार वृत्तियों से सुख-दुखादि के संस्कार और संस्कारों से वृत्तियां चलती हैं तब निरन्तर

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वृत्ति और संस्कारों का चक्र चलता रहता है। अन्तःकरण और विषयों के सम्बन्ध होने से अन्तःकरण में जो परिणाम या विकार उत्पन्न होते हैं उनका नाम वृत्ति है, सो यदि अन्तःकरण अपने अधिकार में स्थित (वश्य) हो जाए तब तो शान्त हो कर आनन्दित हो सकता है और चंचलता से असंख्य विषयों में दौड़ता-दौड़ता मरता रहता है।

अब उक्त 5 वृत्तियों के 5 नाम बताते हैं-

1 प्रमाण वृत्ति, 2 विपर्यय वृत्ति, 3 विकल्प वृत्ति, 4 निद्रा वृत्ति और 5 स्मृति वृत्ति। इन 5 में से प्रत्यक्ष, अनुमान और आराम ये 3 प्रमाण वृत्तियां हैं यथा-

1. इन्द्रिय रूप नालियों में से अन्तःकरण के सांसारिक विषय वस्तुओं में बहकर उनका उस पर रंग चढ़ जाने से सामान्य विषय रूप विषय के विशेष (खसूसियत) का निश्चय करना कि यह, यह है, इस वृत्ति को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। जैसे देवदत्त के अन्तःकरण ने आंख इन्द्रिय रूप नाली में को बहकर एक पुरुष के विशेष (खसूसियत) को पहचाना कि यह गुलाब का पुष्प है, क्योंकि इसमें यद्यपि वे समानता भी हैं जो अन्य पुष्पों में रंग रूप आकार की होती हैं परन्तु इतनी पहचान इसमें ऐसी है जो अन्य पुष्पों में इस प्रकार की (सामान्य से) नहीं होती, इसलिये यह गुलाब का पुष्प है। बस यह वृत्ति और गुलाब पुष्पकार परिणाम 1 प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति हुई।

2. जिस पदार्थ का अुनमान करना हो उस पदार्थ को अनुमेय कहते हैं, उस अनुमेय के तुल्य प्रकार वाले पदार्थों में घटने वाला और अनुमेय से भिन्न प्रकार के पदार्थों में न घटने वाला जो सम्बन्ध है, उस विषय की समानता का निश्चय करने वाली वृत्ति 'अुनमान प्रमाण वृत्ति' नाम की दूसरी वृत्ति है। जैसे चन्द्रमा और तारों को एक से दूसरे देश में गत देखते हैं, परन्तु विन्ध्याचल पर्वत को एक देश से देशान्तर में गत नहीं देखते इसलिये चन्द्रमा और तारों के समान विन्ध्याचल पर्वत चलता नहीं है, स्थिर है, इस प्रकार का निश्चय करना रूप, चित्त, वृत्ति 'अनुमान प्रमाण-वृत्ति' नाम की दूसरी वृत्ति हुई।

3. जब अपने अन्तःकरण की वृत्तियों को इन्द्रिय नाली में बहाकर विषय पदार्थ का ग्रहण न किया जाए और अनुमान प्रमाण वृत्ति से भी काम न लिया जाता हो, किन्तु किसी यथार्थ वक्ता आप्त (प्रमाणिक) पुरुष ने प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा किसी विषय का बोध किया और फिर दूसरों को अपना बोध देकर समझाने को कोई शब्द (वाक्यकलाप) लिखकर या कहकर उपदेश किया हो, तब जो उस

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रतीतिः (स्त्री) = विश्वास, ...

शब्द के सुनने से या पढ़ने से श्रोता या पाठक के अन्तःकरण की वृत्ति उस शब्द के अर्थ (विषय पदार्थ) को ग्रहण करती हैं, उस वृत्ति को 'आगम प्रमाण वृत्ति' कहते है। इसके उदाहरण वेदों से लेकर या आज तक के सब आप्तोपदेश हैं। अब दूसरी विपर्यय नाम की वृत्ति का वर्णन करते हैं कि-

2. वस्तु के स्वरूप से भिन्न स्वरूप में ठहरने वाला (अन्य में अन्य बुद्धि रूप) मिथ्या ज्ञान 'विपर्यय' है।

विपर्यय नाम उलटा ज्ञान, जिसमें ज्ञेय के यथार्थ स्वरूप में भिन्न कुछ का कुछ ज्ञान हो, यह दूसरी वृत्ति है। इसी को अविद्या कहते हैं, जिसके 5 भेद हैं। 1-अविद्या, 2-अस्मिता, 3-राग, 4-द्वेष और 5-अभिनिवेषश। जिनको 5 क्लेश कहकर योग दर्शन में मलों के वर्णन में कहा है इन्हीं 5 के दूसरे नाम ये हैं 1-तम, 2-मोह, 3-महामोह, 4-तामिस्र और 5-अन्धतामिस्र। इस विपर्यय वृत्ति को प्रमाण वृत्ति से पृथक् गिनने का कारण यह है कि उलटा ज्ञान यथार्थ से हट जाता है।

3. शब्द ज्ञान(मात्र) पर गिरने वाला (परन्तु) वस्तु से शून्य 'विकल्प' कहलाता है।

विकल्प वह वृत्ति है जिसमें ज्ञेय वस्तु (पदार्थ) कुछ न हो केवल शब्द बोले जाएं। जैसे पुरुष की चेतनता। यहां पुरुष से भिन्न चेतनता कुछ वस्तु नहीं है, तथापि शब्द मात्र ऐसा बोलने का व्यवहार है। किन्तु जैसे- 'देवदत्त की गौ' इस वचन में पुरुष से भिन्न चेतनता वस्तु नहीं है, क्योंकि चेतनता ही तो पुरुष है, पर तो भी ऐसा बोलने का व्यवहार (रिवाज) है, बस इस व्यवहार की साधन रूप वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति न तो प्रमाण में आ सकती थी, न विपर्यय में, इसलिये तीसरी हैं।

4. अभाव की प्रतीति का सहारा लेने वाली वृत्ति निद्रा है।

यद्यपि निद्रा में कोई प्रतीति नहीं होती, प्रतीति का अभाव हो जाता है, तो भी निद्रा से जागकर मनुष्य विचारता है कि मैं सुखपूर्वक सोया क्योंकि मेरा मन प्रसन्न है, मेरी बुद्धि निपुणता देती है इत्यादि। अथवा मैं सुखपूर्वक सोया क्योंकि मेरा मन आलस्य भरा है, घूम रहा है, वे ठिकाने है इत्यादि। अथवा मैं गहरी मूढ़तापूर्वक सोया क्योंकि मेरे अंग भारी हो रहे है, मेरा मन थका, आलस्य भरा, चुराया सा है इत्यादि। इससे जाना जाता है कि यदि निद्रा कोई मनोवृत्ति न होती तो ये प्रतीतियां न होती, इसलिये प्रमाण विपर्यय और विकल्प से भिन्न 'निद्रा' एक चौथी वृत्ति है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

5. अनुभूत विषय का न खोया जाना स्मृति कहलाती है

अनुभव किये हुए विषय को स्मरण करना और अनुभव को स्मरण करना, इन दोनों का नाम स्मृति है, क्योंकि अनुभव के स्मरण बिना अनुभूत का स्मरण संभव नहीं। किसी पुरुष को एक बार देखकर दूसरी बार देखते समय यदि हम उस पुरुष मात्र का स्मरण करें तो तब तक न हो सकेगा, जब तक कि हम पूर्व देख चुकने का स्मरण न करें। इसलिये किसी पदार्थ को अनुभव करना और अनुभूत पदार्थ इन दोनों को बोधसंस्कारगत पदार्थों में से ढूंढना या टटोल लेना (न भूल जाना या न खोया जाना) स्मृति कहलाती है। यह स्मृति योग भाष्यकार कहते हैं कि दो प्रकार की है। 1-भावितस्मर्त्तव्या और 2- अभावितस्मर्त्तव्या। जिसमें स्भर्त्तव्यपदार्थ की भावना की गई हो वह भावितस्मर्त्तव्या नाम को स्मृति वृत्ति स्वप्न में होती है। दूसरी जिसमें स्मर्त्तव्य पदार्थ की भावना नहीं की गई, वह अभावितस्मर्त्तव्या नाम की स्मृति वृत्ति जागृत में होती है।। (देखो योगदर्शन पाद 1 सूत्र 5 से 11 तक)

इन पांचों वृत्तियों की निवृत्ति होने से पुरुष की क्या दशा होती है? उत्तर-

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ॥ ३४॥ (१९८)

उन (वृत्तियों) की निवृत्ति होने पर (पुरुष) उपरागों के उपशमन से स्वस्थ हो जाता है।

चेतनमात्र स्वरूप से स्वस्थ पुरूष भी मनोवृत्तियों के प्रभाव से अस्वस्थ जान पड़ता है, सो जब वृत्तियाँ निवृत हो जाती हैं तो पुरुष को उपराग (छाया) नहीं रहती उपराग के उपशान्त होने से पुरुष अपने निजस्वरूप में स्वस्थ जान पड़ेगा। यथा-

कुसुमवच्च मणिः ॥ ३५॥ (१९९)

जैसे मणि पुष्प के (उपराग उपशान्त होने पर स्वस्थ प्रतीत होने लगता है) ।

स्फटिक मणि स्वरूप से उज्जवल निर्मल रंगहित है, परन्तु जपापुष्प आदि जिस रंग का पुष्प उसके समीप उपाधि उत्पन्न करेगा, मणि उसी रंग की झलक या छाया पड़ने से मणि का रंग भी उस पुष्प के सा जान पड़ेगा, परन्तु कुसुम (पुष्प) के निवृत्त हो जाने (हट जाने) पर मणि में कोई रंग न पाया जायेगा किन्तु जैसा कि स्फटिक मणि स्वभाव से या स्वरूप से निर्लेप है ठीक वैसा ही पाया जायेगा। इसी प्रकार स्वरूप से शुद्ध निर्मल पुरुष (आत्मा) भी मनोवृत्तियों के संसर्ग से स्वस्थ और मनोत्रृत्तियों के निवृत्त होने पर स्वस्थ शान्त जाना जाएगा।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पुरुषार्थ करणोद्भवोऽप्यऽदृष्टोल्लासात् ॥ ३६॥ (२००)

कारणों का उत्पत्ति भी पुरुष के ही अर्थ है, प्रारब्ध कर्म के निमित्त से।

जैसे प्रकृति की प्रवृत्ति अपने लिये नहीं है। किन्तु पुरुष के भोग। मोक्ष सम्पादनार्थ है, वैसे ही कारणों (बाह्याऽभ्यन्तर इन्द्रियों की उत्पत्ति और प्रवृत्ति भी पुरुष के लिये है, निमित्त (कारण) उसका अदृष्ट (प्रारब्धकर्म) है। दृष्टान्त-

धेनुवद्वत्साय ॥ ३७॥ (२०१)

जैसे बछड़े के लिये गौ की प्रवृत्ति है।

गौ के स्तनों में जिस प्रकार दुग्ध अपने लिये नहीं उपजता बल्कि वत्स के लिये। इसी प्रकार इन्द्रियाँ अपने लिये भोग नहीं करतीं बल्कि पुरुष के लिये।

करण त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥ ३८॥ (२०१)

इन्द्रिययाँ अवान्तर भेद से तेरह प्रकार के हैं।

1 बुद्धि, 2 अहंकार, 3 मन, 5 ज्ञानेन्द्रियाँ (4 नासिका, 5 रसना, 6 चक्षु, 7 त्वचा, 8 श्रोत, 9 कर्मेन्द्रियाँ (9 गुदा, 10 मूत्रेन्द्रिय, 11हाथ, 12 पांव, 13 वाणी) इस अवान्तर भेद से इन्द्रियें 13 प्रकार के हैं ॥38॥

इन्द्रियेषु साधकतमत्वगुणयोगात्कुठारवत् ॥ ३९॥ (२०३)

इन्द्रियों में साधकतमत्वगणु के योग से कुठार के समान वे करण कहलाती हैं।

जैसे कुठार=कुल्हाड़ी से बढ़ई लकड़ी फाड़ता है, वैसे इन्द्रियों से पुरुष भोगों का ग्रहण और प्रयत्न करता है, इसलिये इन्द्रियों को करण (साधन) कहते हैं।

द्वेयोः प्रधानं मनोलोकवद्भृत्येषु ॥ ४०॥ (२०४)

दोनों में मन प्रधान है, जैसे भृत्यों में लोक (स्वामी)।

बाह्य इन्द्रियों और अन्तःकरणों में मन मुख्य है, मन की प्रेरणा से बाहर भीतर के दोनों प्रकार के इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करते हैं, जैसे भृत्य (नौकर लोकों (लोगों=मालिकों=स्वामियों की प्रेरणा से काम करते हैं)।

मन की प्रधानता के 3 हेतु हैं। यह है कि-

अव्यभिचारात् ॥ ४१॥ (२०५)

व्यभिचार न होने से।

ऐसा व्यभिचार नहीं होता कि कोई इन्द्रिय बिना मन की प्रेरणा के कोई काम करे ॥41॥ 2 यह कि-

तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ॥ ४२॥ (२०६)

और अशेष (सब) संस्कारों का आधार होने से।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मन में ही सब संस्कार रहते हैं इसलिये मन प्रधान है ॥ 42 ॥ 3 यह कि-

स्मृत्यानुमानाच्च ॥४३॥ (२०७)

स्मृति से, अनुमान से भी।

सब इन्द्रियों के संस्कार स्मृति रूप से मन में रहते हैं इससे अनुमान होता है कि भीतर ही भीतर मन ही सबको चलाने वाला सब में प्रधान है।

यदि कहो कि तो फिर स्वयं बुद्धि को ही केवल एक इन्द्रिय मान लेना चाहिए, अन्य इन्द्रियों के मानने की क्या आवश्यकता है? तो उत्तर-

असभवेन्न स्वतः ॥४४॥ (२०८)

स्वतः (बुद्धि ही इन्द्रियाँ) हो नहीं सकती।

क्योंकि इन्द्रिय नाम साधन=करण का है, वह बुद्धि स्वयं ही बिना अन्य इन्द्रियों की सहायता के रूपादि ग्रहण नहीं कर सकती, अतः केवल स्वतन्त्र एक बुद्धि ही को करण मान कर अन्य इन्द्रियों का न मानना बन नहीं सकता।

किन्तु-

आपेक्षिकोगुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ॥४५॥ (२०९)

सापेक्ष गुणों की प्रधानता है क्रिया विशेष से।

सब इन्द्रियों की क्रिया (काम) विशेष हैं, अतः परस्पर सापेक्ष गुणों की प्रधानता है। चक्षुरादि 10 इन्द्रियों की अपेक्षा से मन प्रधान है, मन की अपेक्षा से अहंकार और अहंकार से बुद्धि प्रधान (मुख्य) है।

यदि कहो कि अपने-अपने गुणों की प्रधानता के इन्द्रियों में परस्पर सापेक्ष मुख्यता है, तो वे पुरुष के लिये क्यों काम करती हैं। अपने लिये ही स्वतन्त्र क्यों न करें? तो उत्तर-

तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥४६॥ (२१०)

उस पुरुष के कर्मों से कमाया होने से उसी (पुरुष) के लिये सब चेष्टा है, जैसे लोक में।

जैसे लोक में कुठारादि को मनुष्य बनाता है और फिर मनुष्य के लिये ही कुठारादि काम देते है, ऐसे ही इन्द्रियों को पुरुष ने अपने पूर्व कर्म (प्रारब्ध) से अर्जित किया=कमाया है, इसलिये इन्द्रियों की अभिचेष्टा (सब चेष्टाएं) उस पुरुष के अर्थ होती हैं और होनी चाहिएं।

समानकर्मयोगे बुद्धेःप्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ॥४७॥ (२११)

बराबर के काम करने पर भी बुद्धि की प्रधानता है, जैसे लोक में।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यद्यपि मन अहंकार और आंख आदि समान काम करें तब भी बुद्धि की क्रिया मुख्य या प्रधान मानी जाएगी, जैसे लोक में राजा के मन्त्री, भृत्य आदि सभी राजाज्ञा का समान चाव से पालन करते हैं तो भी मन्त्री की प्रधानता मानी जाती है। इसी प्रकार राजा पुरुष है तो मन्त्री बुद्धि और अन्य इन्द्रियाँ भृत्यवत् हैं।

'लोकवत्' पाठ की द्विरावृत्ति अध्याय समाप्ति के सूचनार्थ है।

इस प्रकार पुरुष के प्रयोजनार्थ भोग-मोक्ष सम्पादनार्थ प्रकृति की ईश्वराधीन प्रवृत्ति और उससे अन्य अठ्ठारह 18 तत्व इस द्वितीयाऽध्याय में निरूपित किये गये हैं।

■■■

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ तृतीयोऽध्यायः

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अब क्रमागत महाभूतों की उत्पत्ति कहते हैं-

अविशेषाद्विशेषारम्भः ॥१॥ (२१२)

अविशेष से विशेष का आरम्भ है।

शान्त, घोर मूढ़ इत्यादि विशेषों रहित=अविशेष=पंचतन्मात्रों से विशेष=स्थूल महाभूत जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश है, जिनमें शान्तता, घोरता, मूढ़ता आदि विशेष भेद हैं, वे उत्पन्न होते हैं।

तस्माच्छरीरस्य ॥ २॥ (२१३)

उससे शरीर की (उत्पत्ति या आरम्भ है)।

उस महाभृतपंचक से देहों की उत्पत्ति होती है।

तद्बीजात्संसृतिः ॥ ३॥ (२१४)

उसके बीज से संसृति होती है।

उस स्थूल देह के बीज (1 अहंकार, 2 बुद्धि, 3-7 पंचतन्मात्रा 8-17 दश इन्द्रिय) इन 17 तत्वों के लिंग शरीर से संसृति अर्थात् जन्म-मरण का प्रवाह पुनर्जन्मादि, पुनर्मरणादि होता है। और-

आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ॥ ४॥ (२१५)

जब तक विवेक हो तब तक अविशेष=पंचतन्मात्रों की प्रवृत्ति रहती है।

ये सूक्ष्म तन्मात्रा तब तक स्थूल महाभूतों द्वारा देहों को उत्पन्न करते और मारते रहते हैं और जन्म-मरण का चक्र चलाते रहते हैं, जब तक कि पुरुष को अपने स्वरूप चैतन्य और जड प्रकृति का विवेक नहीं होता। विवेक होने पर मोक्ष है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपभोगादितरस्य ॥५॥ (२१६)

अन्य (अविवेक) के उपभोग से।

अन्य=उत्तर=अविवेकी पुरुष प्रकृति के उपभोग में इसलिये लगा रहता है कि वह विवेकाऽभाव से जान ही नहीं सकता कि भोग दु:खदायक हैं और वैराग्य अन्त में ब्रह्मानन्ददायक है, बिना जाने उसी में लगे रहने से जन्म से जन्मान्तर और मरण से मरणान्तर के हेतु कर्मों को करता ही रहता है, वे कर्म ही बीज रूप में वृक्ष रूप देहों और फल रूप भोगों को उत्पन्न करते रहते हैं।

जब आत्मा या पुरुष एक देह का त्याग कर दूसरे देह को जाता है तो मार्ग (संसृति=संसारोन्मुख गति) चलते समय में उसको सुख होता है या दु:ख? उत्तर-

सम्प्रति परिमुक्तो द्वाभ्याम् ॥६॥ (२१७)

संप्रति (संसृति के समय में) दोनों से मुक्त होता है।

उस समय न सुख होता है, न दु:ख होता है। इससे भूत-प्रेतों के भोग खण्डित जानों।

लिंग शरीर और स्थूल शरीर में क्या भेद है? उत्तर-

मातापितृजं स्थूलं प्रायश इतरन्न तथा ॥७॥ (२१८)

स्थूल (देह) प्राय: माता-पिता से उत्पन्न होता है और दूसरा (लिंग देह) ऐसा नहीं है।

बहुधा स्थूल देह की उत्पत्ति माता-पिता से होती है, परन्तु लिंग शरीर माता-पिता से नहीं बनता। 'प्राय:' इसलिये कहा है कि प्राय: स्वेदज उद्भिज्जादि की उत्पत्ति बिना माता-पिता के भी होती देखी जाती है। तथा सृष्टि के आरम्भ में अमैथुनी आयोनिजा सृष्टि बिना माता-पिता भी होती है।

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ॥८॥ (२१९)

एक (लिंग देह) के पूर्व उत्पन्न होने और भोग भोगने से भोगायतनत्व उसी को है दूसरे (स्थूल) को नहीं।

स्थूल देहमात्र को बिना लिंग देह (17 तत्वात्मक) के भोग नहीं देखा जाता इसलिये भोगा यतन मुख्यत: लिंग शरीर है, तथा लिंग शरीर ही पहले (सृष्टि के प्रारम्भ में) उत्पन्न हुआ उसी से कार्य रूप स्थूल देह पीछे बने, इसलिये भी भोगायतन लिंग शरीर ही है स्थूल नहीं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सप्तदशैकं लिङ्गम् ॥ ९॥ (२२०)

सत्रह का एक लिंग (देह) होता है।

पंचतन्मात्रा, 10 इन्द्रियां, मन, बुद्धि अहंकार ये 17 मिलकर एक लिंग शरीर कहलाता है जो प्रति स्थूल देह का पृथक-पृथक एक-एक लिंग देह है।

यदि कहो कि जब लिंग शरीर में मनुष्य, पशु, पक्षी आदि आकार भेद नहीं तो प्रति शरीर एक-एक पृथक-पृथक व्यक्ति भेद क्यों माना जाए? तो उत्तर-

व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ॥ १०॥ (२२१)

कर्मविशेष से व्यक्तिभेद है।

सब लिंग शरीर एक से कर्मों के भोगार्थ नहीं बने, किन्तु विलक्षण कर्मों के विलक्षण भोग पाने को बने हैं, अतः वे परस्पर एक दूसरे से भिन्न व्यक्ति हैं। एक ही लिंग देह सबका होता तो भोग भी सबका उस एक का होता तब कर्मफल भोग की व्यवस्था न रहती।

जब लिंग शरीर ही भोगायतन है तो स्थूल देह को शरीर ही क्यों कहा जाता है? क्योंकि शरीर तो भोग यतन (भोगस्थान) को कहते हैं? उत्तर-

तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात्तद्वादः ॥ ११॥ (२२२)

उस (कर्मविशेष) के अधिष्ठान (बुद्धितत्व) के आश्रय देह में उसे (देहत्व) कथन से उस (स्थूल) में भी देहवाद है।

कर्म विशेष का अधिष्ठान तो केवल बुद्धि है वह बुद्धि लिंग शरीर को आश्रय करती है, इसलिये लिंग शरीर को जैसे शरीर=भोगायतन कहते हैं वैसे ही वह लिंग शरीर इस स्थूल शरीर के आश्रय करता है इससे इस स्थूल को भी शरीर=भोगायायतन कहने लगे हैं। परन्तु-

न स्वतन्त्रात्तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥१२॥ (२२३)

स्वतन्त्र (बुद्धि तत्व भी भोगों को) नहीं भोग सकता, उस (देह) के बिना जैसे छाया और चित्र।

जैसे आश्रय के बिना छाया नहीं होती और जैसे आश्रय के बिना चित्र नहीं खिंच सकता वैसे ही देह के बिना बुद्धितत्व भी स्थिर नहीं रह सकता इसलिये देह को भोगायतन कहा जाता है।

यदि कहो कि तो फिर लिंग शरीर मात्र से ही पुरुष को भोग सिद्ध हो जाएगा, स्थूल शरीर की क्या आवश्यकता है? तो उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मूर्त्तत्वेऽपि न संघातयोगात् तरणिवत् ॥ १३॥ (२२४)

मूर्त्त होने पर भी (लिंग शरीर स्वतन्त्र भोग) नहीं भोग सकता, संघात के योग से जैसे सूर्य॥

प्रथम तो लिंग शरीर अमूर्त्त सूक्ष्म है उसमें भोग होए कैसे और यदि उसको मूर्त्त भी मान लें तो भी भोग तो संघत होने पर होते हैं, बिना संघात नहीं, इसलिये केवल लिंग शरीरमात्र से भोग सिद्ध नहीं होता। जैसे सूर्य की धूप है, परन्तु किसी घट, पट, भित्ति आदि पर पड़ कर ही प्रतीत होती है, स्वतन्त्र अकेली नहीं ॥13॥

अब सूक्ष्म या लिंग देह का परिमाण बताते हैं:-

अणुरिमाणं तत्कृतिश्रुतेः ॥ १४॥ (२२५)

अब अणु परिमाण (नहीं) है क्योंकि उस कार्य श्रुत है।

'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादि मुण्डकोपनिषद् आदि श्रुतियों से लिंग शरीर को उत्पत्तिमान सुनते हैं अतः वह अणु परिमाण नहीं, किन्तु मध्यम परिमाण वाला है। न शब्द की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति है। तथा-

तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ॥ १५॥ (२२६)

उस के अन्नमयत्व श्रवणों से भी।

छान्दोग्य प्रपाठक 6 खण्ड 5 में श्रुति है कि 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्। अर्थात् मन-अन्न का प्राण जल का और वाणी तेज का विकार है=अन्न से मन बनता है, जल से प्राण बनते हैं और वाणी तेजस्तत्व से बनती है इसलिये मन आदि 17 का संघात रूप लिंग शरीर अणु परिमाण नहीं हो सकता, तब उसको मध्यम परिमाण ही मानना ठीक है।

यदि कहो कि लिंग शरीर मध्यम परिमाण ही रहो, परन्तु तो भी वह जड़ है फिर वह संसरण (देह से देहान्तर गमन) क्यों करता है? तो उत्तर-

पुरुषार्थं संसृतिलिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ॥ १६॥ (२२७)

लिंग शरीरों की गति पुरुष के लिये है जैसे रसोइये की॥

जैसे वेतन लेकर रोटी बनाने वाला रसोइया जो पाकशाला (रसोई-घर) में जाता है वह अपने लिये नहीं, किन्तु राजादि अपने स्वामी के लिये जाता है, वैसे ही लिंग शरीरों का गमनागमन पुरुष के लिये भोगसाधनों के संग्रह और सम्पादनार्थ है।

अब स्थूल देह का स्वरूप बताते हैं-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पांचभौतिको देहः ॥ १७॥ (२२८)

पंच भूतों का विकार (स्थूल) देह है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचस्थूल महाभूतों से स्थूल शरीर=देह उत्पन्न होता है। अन्य मत-

चातुर्भौतिकामित्येके ॥ १८॥ (२२९)

गीता अध्याय २ को २३ नं. श्लोक पुष्टि गर्दछ।

कोई कहते हैं कि (देह) चार महाभूतों का विकार है।

जो आचार्य आकाश के अपरिणामीपन को लक्ष्य में धरते हैं, वे 4 महाभूतों का विकार ही देह को मानते हैं, आकाश भी देह में रहो, परन्तु मुख्य करके स्थूल देह चारों स्थूल भूतों से ही बना है।

ऐकभौतिकामित्यपरे ॥ १९॥ (२३०)

अन्य आचार्य एक ही महाभूत का विकार देह को मानते हैं।

यद्यपि पांचों भूतों से देह की उत्पत्ति है, परन्तु पार्थिक देह जो पृथ्वी में से उत्पन्न होकर अन्त में पृथ्वी में ही लीन होते देखे जाते हैं, इस स्थूल विचार से वे लोग देह को एक भौतिक ही कहते हैं ॥19॥ यदि कहो कि देह ही चेतन स्वाभाविक है, पुरुष कोई पृथक् चेतन नहीं, तो उत्तर-

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकाऽदृष्टेः ॥ २०॥ (२३१)

स्वाभाविक चेतनता नहीं बनती, क्योंकि प्रत्येक (भूत) में नहीं दिखती।

क्योंकि पृथ्वी आदि प्रत्येक भूत में चेतनता नहीं अतः पांचों या चारों या एक ही भूत का विकार देह को मानो, तब भी देह में अपनी स्वाभाविक चेतना नहीं है। और

प्रपंचमरणाद्यभावश्च ॥ २१॥ (२३२)

(स्वाभाविक देह में चेतनता होती तो) संसार में मरणादि न होते।

यदि पंचभूतों ही में स्वाभाविक चेतनता होती तो कोई न मरता क्योंकि पुरुष की चेतनता मानने में तो उसके निकल जाने से मरणादि होते है, जब पंचभूतों के बने देह में स्वाभाविक अपनी निज की चेतनता (बिना पुरुष) के होती तो कोई देहधारी कभी न मरता, न कभी सुषुप्ति में जाता।

यदि कहो कि पंचभूतों में पृथक्-पृथक् चेतनता नहीं भी हो तो भी संयोग से मदशक्ति के समान चेतनता उत्पन्न हो जाती है, तो उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

द्राक्षा (द्रो) = दाख, अंगूर

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः ॥ २२॥

यदि मदशक्ति के समान मानो तो वह (मदशक्ति) तो प्रत्येक में अनुमान दृष्ट है और मिलने पर उसका प्राकट्य मात्र होता है।

प्रत्येक द्राक्षादि में छिपी हुई मदशक्ति संहत होने पर प्रकट हो जाती है, परन्तु पृथ्वी आदि में छिपी हुई चेतनता का कोई प्रमाण नहीं, द्राक्षादि में छुपी मादकता तौ वैद्यक शास्त्रादि प्रमाण सिद्ध है जो न्याय दर्शन 309 से 312 तक में भी प्रतिपादित है यथा-

लोग इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख को केवल अन्तःकरण का धर्म मानते हैं। उनके मन का खण्डन गौतम मुनि भी करते हैं-

ज्ञस्येच्छादेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥ न्याय०॥ (३०९

उ०- ज्ञाता की प्रवृत्ति और निवृत्ति ही इच्छा और द्वेष को मूल होने से (इच्छादि आत्मा (पुरुष) के लिंग हैं)।

आत्मा पहले इस बात को जानता है कि यह मेरा सुखसाधन है और यह दुःखसाधन। फिर जाने हुए सुखसाधन के ग्रहण और दुःखसाधन के त्याग करने की इच्छा करता है, इच्छा से युक्त हुआ सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति के लिये यत्न करता है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा प्रयत्न, सुख और दुःख इन सबका जिस एक के साथ सम्बन्ध है वह आत्मा (पुरुष) है। इसलिये इत्छादि छहों लिंग चेतन आत्मा के हैं, न कि अचेतन अन्तःकरण के ।शंका-

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥ न्या०॥ ३१०

प्र० इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति का लिंग होने से पृथ्वी आदि (भूतों के संघात=शरीर) में ज्ञानादि का निषेध नहीं हो सकता।

प्रवृत्ति और निवृत्ति के चिह्न इच्छा और द्वेष हैं अर्थात् इच्छा से प्रवृत्ति और द्वेष से निवृत्ति होती है ओर ये दोनों इच्छा और द्वेष शरीर के धर्म हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध चेष्टा से हैं और चेष्टा का आश्रय है, अतएव इच्छादि शरीर के ही धर्म है। आगे उक्त पख में दोष दिया है कि-

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ न्या०॥ (३११)

कुमभदिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ न्या० (३१२)

उ०- कुठारादि में आरम्भ और निवृत्ति तथा कुम्भादि में उनकी उपलब्धि न होने से (उक्त हेतु अहेतु हैं)।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि आरम्भ (प्रवृत्ति) और निवृत्ति के होने से इच्छादि शरीर के गुण मानोगे तो कुठार आदि साधनों में भी ज्ञानादि की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि कुठार आदि में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप क्रिया देखने में आती हैं। इसी प्रकार कुम्भादि में प्रवृत्ति और बाल आदि में निवृत्ति के होने पर भी इच्छा और द्वेष की प्रवृत्ति और निवृत्ति लिंग हैं। यह हेतु हेत्वाभास हैं।

आगे प्रतिपक्षी के हेतु का खण्डन करके सिद्धान्त कहा है-

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥न्या०॥ (३१३)

उ०- उन (इच्छा और द्वेष) के भेदक तो नियम और अनियम हैं।

ज्ञाता (प्रयोक्ता) की इच्छा और द्वेषमूलक प्रवृत्ति और निवृत्तियाँ अपने आश्रय नहीं है, किन्तु प्रयोज्य (शरीर) के आश्रय हैं, प्रयोज्यमान भूतों में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, सब में नहीं, इसलिये अनियम की उपत्ति है और आत्मा (पुरुष) की प्रेरणा से भूतों में इच्छा-द्वेष निमित्तक प्रवृत्ति और निवृत्ति उत्पन्न होती है, बिना प्रेरणा के नहीं, इसलिये नियम की उपत्ति है। तात्पर्य यह है कि इच्छा और द्वेष प्रयोजन (आत्मा=पुरुष) के आश्रित हैं और प्रवृत्ति व निवृत्ति प्रयोज्य (शरीर) के आश्रित हैं, अतएव इच्छादि आत्मा (पुरुष) ही के लिंग हैं। आगे इच्छादि अन्तःकरण के धर्म न होने में दूसरी युक्ति कही है-

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्चन मनसः (३१४)

उ०- उक्त हेतु से, मन शब्द से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों का ग्रहण करना चाहिये। आत्मासिद्धि के अब तक जितने हेतु यहां न्याय में कहे गये हैं, उनसे इच्छादि का आत्मा लिंग होना सिद्ध ही है, उनके अतिरिक्त मन आदि के परतन्त्र होने से भी इच्छादि मन के धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि मन आदि क्रिया में स्वतन्त्रता से नहीं किन्तु आत्मा (पुरुष) की प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि मन आदि को स्वतन्त्र कर्त्ता माना जाए तो अकृताभ्यागम रूप (करे कोई और भरे कोई) दोष आता है क्योंकि शुभाशुभ कर्मो को स्वतन्त्रता से करें तो ये, और उनका पल जन्मान्तर में भोगना पड़े अन्य अन्तःकरण को और यह हो नहीं सकता।

पुनः इसी की पुष्टि की है-

परिशेषाद्यथोक्तहेतु पपत्तेश्च ॥न्या०॥ (३१५)

उ०- परिशेष और उक्त हेतुओं की उपपत्ति से भी (ज्ञानादि आत्मा के धर्म हैं)।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जब यह बात उपपत्ति से सिद्ध हो गई कि ज्ञानादि-इन्द्रिय, मन और शरीर के धर्म नहीं हैं, तब इनसे शेष क्या रहता है,? आत्मा। बस आत्मा (पुरुष) के धर्म ज्ञानादि स्वतः सिद्ध हो गये, इसके अतिरिक्त न्याय शास्त्र में इससे पूर्व जो आत्मा सिद्धि के हेतु दिये गये हैं, यथा-'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' इत्यादि उनसे भी ज्ञानादि चिह्न आत्मा के ही सिद्ध होते हैं। आगे स्मृति का भी आत्म गुण होना प्रतिपादन किया है-

स्मरणन्त्वात्मनोज्ञ स्वाभावात् ॥ न्याय०॥ (३१६)

उ०- ज्ञाता का स्वभाव होने से स्मरण भी आत्मा का ही धर्म है।

स्मृति ज्ञान के आश्रित है क्योंकि जानना, जानता हूं, जानूंगा इत्यादि त्रैकालिक स्मृतियां ज्ञान के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। जब ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् ज्ञान और चेतन (पुरुष=आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध है तब स्मृति, जो उससे उत्पन्न होती है, आत्मा के अतिरिक्त दूसरे का धर्म क्योंकर हो सकती है? इत्यादि। इस प्रकार न्याय का मत भी सांख्य के ही समान है।

ज्ञानान्मुक्तिः ॥ २३॥ (२३४)

ज्ञान से मुक्ति होती है।

बन्धो विपर्ययात् ॥ २४॥ (२३५)

विपरीत (उलटे ज्ञान) से बन्धन होता है।

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥ २५॥ (२३६)

मुक्ति और बन्ध के नियत दो पृथक-पृथक कारण हैं, ज्ञान मुक्ति का और विपरीत ज्ञान बन्ध का। इसलिये न तो समुच्चय अर्थात् अन्य अनेक कारणों से समुदाय की आवश्यकता है और न विकल्प कीअर्थात् न यह विकल्प है कि ज्ञान से कभी मुक्ति हो, कभी न हो, या विपरीत ज्ञान से कभी बन्ध हो कभी न हो, किन्तु ये दोनों नियत कारण है। ज्ञान से नियत मुक्ति और विपरीत ज्ञान से नियत बन्धन होता ही है।

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकाऽमायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥ २६॥ (२३७)

जैसे स्वप्न माया (प्रकृति) से और जागरण (प्रकृति से पृथकत्व) से होता है, वैसे ही दोनों (समुच्चय और विकल्प) में पुरुष की मुक्ति नहीं हो सकती। जैसे स्वप्न में प्रकृति का सम्बन्ध नियत है, और जागरण में उसका हटना नियत है, इस में समुच्व या विकल्प नहीं हो सकता, इसी प्रकार बन्ध और मोक्ष

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के नियत दोनों कारण विपरीत ज्ञान और यथार्थ ज्ञान (विवेक ज्ञान) में भी समुच्चय और विकल्प को अवसर नहीं। जैसा कि वेद में लिखा है कि- 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' यजु० 31।18 उस (परमात्मा) को जान कर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, अन्य मार्ग द्वारा नही।

इतरस्याऽपि नात्यन्तिकम् ॥ २७॥ (२३८)

(ज्ञान से) इतर=कर्म का फल भी अत्यन्त दु:ख निवृत्ति नहीं है।

ज्ञान से इतर=भिन्न=कर्म का फल भी दुखन्नय की अत्यन्त निवृत्ति=मोक्ष नहीं हो सकता, क्योकि सभी कर्म मायिक हैं=प्रकृति के संग से बनते हैं, प्रकृति सत्व, रजस्, तमस् तीन गुणों वाली है, इसलिये उनके संग तक पुरुष का मोक्ष सम्भव नहीं।

सङ्कल्पितेऽप्येवम् ॥ २८॥ (२३९)

मन से संकल्पितमात्र कर्म में भी यही बात है।

यदि कहो कि शारीरिक कर्म मुक्ति न करा सकें तो न सही मानसकर्म, उपासनादि तो ऐसे हैं जिनमें प्राकृत सम्बन्ध नहीं, उनसे तो मोक्ष हो जाएगा, उत्तर यह है कि नहीं, क्योंकि मानस संकल्प भी मन से प्राकृत होने से प्राकृत हैं=मायिक हैं। मायिक से मोक्ष नहीं, बन्धन ही है।

कर्म उपासना दोनों से मोक्ष नहीं तो वेद में कर्म उपासना ज्ञान इन 3 का प्रतिपादन क्यों किया है? केवल ज्ञान ही प्रतिपादनीय था? कर्म उपासना तो व्यर्थ रहे? उत्तर-

भवनोपचयाच्छुद्धस्य सर्व प्रकृतिवत् ॥ २९॥ (२४०)

भावना के संग्रह से शुद्ध (पुरुष) को सर्व (ज्ञान) हो जाता है, जैसे स्वभाव से।।

जैसा कि पुरुष प्रकृति से (स्वभाव से) ज्ञानी चेतन है, ठीक वैसा ही तब हो जाता है जबकि भावना=ध्यान का उपचय=प्रबल संचय हो। ध्यान उपासना का अंग है, उपासना की योग्यता स्वकर्मानुष्ठान से होती है इसलिये कर्म और उपासना व्यर्थ नहीं, किन्तु 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' यजु: 40।80।18 के अनुसार स्वकर्मानुष्ठान से अन्त:करण शुद्ध होता है, शुद्ध अन्त:करण से ध्यानादि उपासना बनती और उपासना से पुरुष को ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की योग्यता होती है। ज्ञान से (सूत्र 134 के अनुसार) मुक्ति होती है। इसलिये वेद ने क्रम से उत्तरोत्तर अधिकारी बनाने के लिये कर्म उपासना ज्ञान का काण्डत्रय में उपदेश किया है ।।29।। अब उपसनांग=ध्यान का वर्णन करते हैं-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥ ३०॥ (२४१)

राग का नाश ध्यान है।

चित्त की चंचलता के हेतु शब्द स्पर्शादि विषय हैं, विषयों में अनुराग को राग कहते हैं, उस राग का दबाना, दबाकर चित्त को निर्विषय करना ध्यान है। जैसा कि योग दर्शन 107।108 में कहा गया है-

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ योग०॥ (१०७)

चित्त का किसी (नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धा, भ्रूमध्य, नेत्र कोण, नासिकाग्र इत्यादि) देश में बांधना धारणा कहलाती है। अपने देह के अवयवों को छोड़कर चन्द्र, सूर्य, तारा आदि में या अन्य किसी एक देश में चित्त लगाना भी धारणा है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ योग०॥ (१०८)

उस (धारणा) में प्रत्यय (ज्ञान) का एक सा रहना ध्यान है।

किसी देश में जब चित्त लगाया जाए तो वह धारणा है और धारण में ही जब अभ्यास पक जाने से चित्त डिगे नहीं, किन्तु उस देश का (जिस नाभिकादि में चित्त लगा कर धारणा की थी) ज्ञान एक सा बना रहे, इसको उस देश का ध्यान कहते हैं। इस प्रकार योगानुकूल ही सांख्य है।

कोई लोग इसी को ब्रह्म का ध्यान समझ कर भ्रम में पड़ते हैं। ब्रह्म वांगमनसाऽतीत है, वाणी और मन (चित्त) का विषय न होने से ब्रह्म की धारणा या ब्रह्म का ध्यान सम्भव नहीं, किन्तु जहां कहीं 'ब्रह्म का ध्यान' अन्यत्र शास्त्रों में कहा है, वहां 'ध्यान' शब्द से सांख्य योग दर्शनों का लाक्षणिक ध्यान विलक्षित नहीं, किन्तु आत्मा में जो (प्राकृत मन या चित्त नहीं) ज्ञान शक्ति है, तद् द्वारा ब्रह्म को जानना ही ब्रह्म का ध्यान समझना चाहिए।

वृत्तिनिरोधात्तत्सिद्धिः ॥ ३१॥ (२४२)

वृत्तियों को रोकने से उस (ध्यान) की सिद्धि होती है।

मन की वृत्तियों को रोकने से ध्यान बनता है। जैसा कि योग शास्त्र में कह आये हैं। देखो सूत्र 'योगश्चित्तवृतिनिरोधः' 2 इसमें यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि सांख्य में चित्त शब्द का व्यवहार न करके मन बुद्धि अहंकार इन तीनों को ही अन्तःकरणत्रय कहा है। परन्तु ठीक योग शास्त्र के भाव को लेकर ही सांख्यकार इस सूत्र 31 को रचते हैं जिससे इन्ही मन आदि तीनों में सांख्याचार्य को चित्त का अन्तर्भाव अभिमत प्रतीत होता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वृत्तियों को किस प्रकार रोका जाए? उत्तर-

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥ ३२॥ (२४३)

धारणा, आसन और स्वकर्म से उस (वृत्तिनिरोध) की सिद्धि होती है, धारणा, आसन और स्वकर्म का वर्णन आगे सूत्रों द्वारा स्वयं आचार्य करते है। यथा धारणा-

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥ ३३॥ (२४४)

छर्दि और विधारण से निरोध होता है।

रेचक प्राणायाम=छर्दि और पूरक प्राणायाम=विधारण इन दोनों के करने से निरोध सिद्ध होता है। इसी प्राकण के निरोध को धारणा कहते हैं। तथा आसन का निरूपण यह है-

स्थिरसुखमासनम् ॥ ३४॥ (२४५)

स्थिर सुखपूर्वक बैठना, वह आसन है।

यद्यपि स्वस्तिकासन आदि भेद से योग शास्त्र में अनेक आसन कहे हैं, परन्तु उनमें मुख्य लक्षण आसन का यही है कि जिस प्रकार बैठने से स्थिरता और सुख हो किसी प्रकार की चंचलता या दुःख न हो। योगशास्त्र में भी ठीक इन्ही शब्दों का ऐसा ही सूत्र इसी आशय का है जो साधनपाद का 46 (97) वां सूत्र है। धारणा का वर्णन भी उल्लिखित योग दर्शन तृतीय विभूतिपाद सूत्र 1 (107) में किया गया है, वह भी इस सांख्य के तुल्य है।

आगे तीसरे काम 'स्वकर्म' का निरूपण करते हैं-

स्वकर्मस्वाश्रमविहितकर्माऽनुष्ठानम् ॥ ३५॥ (२४६)

अपने आश्रम के लिये विधान किये हुए कर्म का अनुष्ठान करना=स्वकर्म कहलाता है।

वेदादि शास्त्र में जिस 2 ब्रह्मचर्यादि आश्रम में जिस जिस संध्योपासनादि कर्म का विधान किया गया है उस उसको उस 2 विधि से करना=इसका नाम स्वकर्मानुष्ठान है ।।35।। ये तीन उपाय 1 धारणा, 2 आसन, 3 स्वकर्म बताये गये, जिनसे ध्यान की सिद्ध होती है। आगे और भी उपाय कहते हैं-

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥ ३६॥ (२४७)

वैराग्य और अभ्यास से भी वृत्तिनिरोध होकर ध्यान होता है, यही बात इन्हीं शब्दों में केवल समास करके योगदर्शन में कही गई है। यथा-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ यो० १२॥

(बार-बार रोकने के) अभ्यास और वैराग्य से उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध होता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चित्तवृत्ति एक नदी के समान है जिसकी दो धारें हैं। पुण्य और पाप दो स्थानों को वे दोनों धारें बहती हैं। जो कैवल्य रूप ऊपर के बोझ या दबाव से विवेक रूप नीचे देश में बहती है, वह पाप स्थान को बहती है। इसलिये बार-बार अभ्यास करके और पापवहा धारा के परिणाम दुःख, भोगों और मलीनताओं के विचार करने से उत्पन्न हुये वैराग्य द्वारा इनका निरोध करना चाहिए। वैराग्य से विषय का स्रोत बन्द किया जाता है और विवेकोत्पादक शास्त्रों के अभ्यास से विवेक स्रोत को उधेड़ा जाता है, इन दोनों के आधीन चित्तवृत्तिनिरोध हो जाता है। अभ्यास और वैराग्य का अर्थ बताने को योगदर्शन में अगले ये सूत्र हैं-

तत्र स्थितो यत्नोऽभ्यासः ॥ १३॥

उन (अभ्यास, वैराग्य दोनों में से ठहराव का यत्न करना अभ्यास कहलाता है।

वृत्ति रहित चित्त की ठहराव स्थिति कहलाता है। उस स्थिति के लिये यत्न पुरुषार्थ उत्साह (हिम्मत) करना, अर्थात् स्थिति के सम्पादन करने की इच्छा से उस स्थिति के साधनों का अनुष्ठान (अमल) करना=अभ्यास है।

आगे अगले सूत्र में अभ्यास की रीति और दृढ़ता सम्पादन करना बताया है-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ॥१४॥

और वह (अभ्यास) बहुत काल तक लगातार भले प्रकार सेवन करने से दृढ़भूमि हो जाता (जड़ पकड़ जाता) है। बहुत काल पर्यन्त लगातार तप ब्रह्मचर्य विद्याष्ठ श्रद्धादि संस्कारपूर्वक अभ्यास दृढ़ हो जाता है। बार-बार अभ्यास और इतर पदार्थों से वैराग्य (अप्रीति) या अलिंप्त होने से चित्त एकाग्र होता है अन्यथा चित्त बड़ा चंचल है इसके भीतर अनेक सुसंकल्प व कुसंकल्प उठा करते हैं। चित्त की गति रोकने वाले को प्रथम परमात्मा से यह भी प्रार्थना करनी चाहिये, कि हे भगवन्! मेरे मन में बुरे संकल्प न उठें, शुभ संकल्प उठें। जैसा कि वेद में प्रार्थना का उपदेश है-

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगम ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

यजुः ३४ ॥ १॥

हे भगवन्! (तत में, मनः) वह मेरा, मन (शिवसंकल्पम् अस्तु) शुभ संकल्प वाला हो, (यत् आग्रतः, दूरम उदेत) जो जैसे जागते का दूर जाता है (तत्, सुप्तस्य, उ तथा एव, एति) वह सोते का भी वैसे ही जाता है (दैवम्) दिव्य है (एकं, ज्योतिषां ज्योति) एक ज्योतियों का ज्योति है। तात्पर्य यह है कि

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मन जिस प्रकार जागते समय में विषयों में दौड़ा-दौड़ा फिरता है, उसी प्रकार स्वप्न (निद्रा) में भी जबकि हाथ नहीं चलते, पैर नहीं चलते, कान नहीं सुनते, नाक नहीं सूंघती, आंखें नहीं देखती, त्वचा नहीं छूती और समस्त बाहर के व्यापार बन्द होते हैं, तब भी मन दौड़ने में वैसा ही फुर्तीला रहता है जैसा कि जागते समय। जब मनुष्य अपनी शक्ति भर इसके रोकने में श्रम करता है और कुछ नहीं करता, तो कम से कम इसकी गति को बुराई से रोक कर भलाई की ओर फेरना चाहिए। उन भलाइयों में इसको बहुत दिनों तक दौड़ने दें तो उन (भलाइयें) के बदले परमात्मा प्रसन्न होकर इस असमर्थ जीवात्मा का मन रोकने का सामर्थ्य देते हैं और जब यह कृपा होती है, तब मानों कार्यसिद्धि में देर नहीं रहती। इस प्रकार मन को रोकने से पहले शुभकर्मानुष्ठान के लिये छोड़ देना चाहिये। जिस से हुई ईश्वर की कृपा से इसके रोकने का सामर्थ्य प्राप्त हो। कदाचित् पाठक यह पूछेंगे कि जब कि परमात्मा 'वांगमनोतीत' अर्थात् वाणी और मन का विषय नहीं है, मन उसको नहीं पहचान सकता क्योंकि वह प्राकृत स्थूल है, अत: यह सूक्ष्मतम परमात्मा की भक्ति नहीं कर सकता इसलिये मन शक्ति का साधन ही नहीं तो फिर उस की भक्ति में मन कैसे लगे?

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि मन साक्षात् परमात्मा की शक्ति का साधन नहीं तथापि हमारा ज्ञान जो मन की प्रेरी हुई इन्द्रियों के द्वारा क्षीण होता रहता है वह क्षीण होना बन्द हो जाए और क्रमश: बढ़ता जाए, जिससे हम उस महान उच्च मन की गति से दूर, परन्तु आत्मा में ही स्थित परमात्मा की भक्ति कर सकें। जिस प्रकार एक नहर से खेतों में पानी देते हैं, परन्तु जो खेत पानी के बहाव से ऊंचे हैं उन में पानी नहीं पहुंचता क्योंकि वह आगे को बहा जाता है, किन्तु यदि उस पानी के आगे के बहाव मार्ग रोक दिया जाए जैसा कि स्लीपर डालकर नहर वाले पानी को ऊंचा कर देते हैं तो उन ऊंचे खेतों में भी पानी की गति हो सकती है जिनमें कि इस से प्रथम पानी नहीं जा सकता था। ठीक इसी प्रकार मानवात्मा का परिमित ज्ञान और वह भी इन्द्रियों के छिद्रों के द्वारा प्रतिक्षण नहर (कुलाबा) के पानी के समान बहता है तो भला फिर उस अपरिमित और अत्यन्त उच्च परमात्मा तक कैसे पहुंचे? मनुष्य का ज्ञान यथार्थ में इन्द्रिय छिद्रों द्वारा बहता है। अर्थात् विषयों में खर्च होता रहता है, इस कारण उसमें और भी न्यूनता हो जाती है। सब मानते हैं कि मनुष्यों को देखने का काम बहुत पड़े तो दर्शन शक्ति घट जाती हैं। चलने से पांव थक जाते हैं। सुनने से कान थक जाते है। इसी प्रकार

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विचारने से बुद्धि थक जाती है। स्मरण करने से बहुत बात हों तो स्मृति थक जाती है। जिन लोगों का लेन-देन थोड़ा है वे तो उसे स्मरण रख सकते हैं, परन्तु जिन का व्यापार बहुत है वे स्मरणार्थ रजिस्टर या वही और फिर भिन्न 2 खाते का कागज लिखते हैं और तिस पर भी प्रायः भूल जाते हैं। कारण यही है कि ज्ञेय विषय के बढ़ जाने से ज्ञान सब में थोड़ा-थोड़ा बंट जाता है। जब कि सांसारिक पदार्थों के जानने में भी स्मृति के बंट जाने से कठिनाई होती है तो परमात्मा जो सब से सूक्ष्म है, उसके जानने में जितनी कठिनाई पड़े सो सत्य है। इसलिये परमात्मा की शक्ति के अभिलाषी पुरुष को इन्द्रियव्यवहार से हटा कर ज्ञान को नहर के पानी के समान रोक कर उच्च बनाना चाहिए।

परन्तु एक बार यह समझने मात्र से काम नहीं चला सकता कि चित्तवृत्तियों को बाहर न जाने दिया जाए, किन्तु सब लोग नित्य देखते हैं कि एक विद्यार्थी को पाठ या अर्थ का ज्ञान करा दिया जाता है, परन्तु बार बार अभ्यास के बिना ज्ञान नहीं ठहरता। जब हम सड़क पर चलते हैं और अनुमान 24 अंगुल (1 फुट) भूमि की चौड़ाई से अधिक अपेक्षित नहीं होती अर्थात् चाहे सड़क 10 गज चौड़ी हो, परन्तु हम केवल आधे गज मात्र चौड़ाई पर चलते हैं। हमें यह ज्ञान भी है कि हमारे चलने के लिये इतने से अधिक चौड़ाई की आवश्यकता नहीं, परन्तु क्या हम किसी ऐसी सड़क पर जो केवल आधा गज ही चौड़ी हो, सुगमता से चल सकते हैं? कभी नहीं, जब तक ऐसी संकुचित सड़क पर चलने का अभ्यास न हो, कभी निःशंकभाव से नहीं चल सकते। किन्तु अभ्यास की महिमा अपार है। अभ्यास होने पर न केवल उस आधा गज चौड़ी सड़क पर चल सकते हैं, प्रत्युत उस से, अत्यन्त संकुचित केवल एक अंगुल मोटे रस्से (रज्जु) पर भी चल सकते हैं जो केवल संकुचित ही नहीं। बल्कि हिलता भी है, जिस के टूट जाने का भी भय है, जो पृथ्वी से दूर है, परन्तु अभ्यास बड़ी वस्तु है, अभ्यास के द्वारा चित्त वृत्तियाँ कितनी भी रक्त हों, निरुद्ध हो सकती हैं।।

आगे योग में वैराग्य का वर्णन किया है-

दृष्टाऽनुश्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकारसंज्ञावैराग्यम् ।। १५।।

देखे और (शास्त्र से) सुने विषयों की तृष्णा से रहित (चित्त का) वशीकार वैराग्य कहलाता है।

अन्न पान मैथुनादि सांसारिक और मरणान्तर अन्य जन्मों, अन्य लोकों तथा अन्य योनियों में शास्त्रानुसार मिलने वाले पारलौकिक विषयों में से उसकी

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

असारता जान कर चित्त का हटाना वैराग्य कहलाता है। जब ज्ञान बढ़ता है तो जो विषय सुखदायक जान पड़ते थे, वे फिर दुःखदायक क्या दुःखरूप ही दिखने लगते हैं और इस प्रकार विषयों में दोष दिखने से उनका राग जाता रहता है और वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। जैसा कि इसी सांख्य में कहा जा चुका है कि-

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥ १॥ २॥

मनुष्य के आध्यात्मिकादि तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति रूप सिद्धि सांसारिक दृष्ट पदार्थों से नहीं हो सकती, क्योंकि उनसे दुःखनिवृत्ति होते ही तत्काल पुनः दुःख की अनुवृत्ति देखते हैं। कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य का क्षुधारूप दुःख है, उसकी निवृत्ति के लिये वह दोपहर के 12 बजे 8 छटांक भोजन करता है और सायंकाल के 8 बजे दूसरी बार क्षुधा लगती है। उसकी निवृत्ति के लिये फिर 8 छटांक (छटांग-60 ग्राम) भोजन करता है। ऐसा ही नित्य किया करता है। अब विचारना चाहिये कि क्या उसकी क्षुधा 12 बजे से 8 बजे तक 8 घण्टे के लिये निवृत्त हो जाती है? कदापि नहीं। अच्छा क्या 6 बजे क्षुध ा न थी? अवश्य थी। क्या इस से पूर्व न थी? नहीं कुछ न कुछ अवश्य थी किन्तु वह 8 छटांक की क्षुधा जो सायंकाल 8 बजे पूरी क्षुधा हुई है, वह 4 बजे भी चार छटांक की क्षुधा अवश्य थी और एक बजे दोपहर को भी एक छटांक की क्षुधा थी ही। वह क्रमशः एक 2 घंटे में एक 2 छटांक बढ़ती आई और बढ़ते 2 ठीक आठ बजे पुनः पूर्ववत् पूरी 8 छटांक मांगने लगी इतना ही नहीं, किन्तु वह 1 घंटे के 60वें भाग एक मिनट में 1 छटांक का 60वां भाग इतना ही नहीं, किन्तु वह 1 घंटे के 60 के 60वें भाग एक मिनट में 1 छटांक का 60वां भाग क्षुधा भी अवश्य थी। मानो जिस समय तृप्त होकर दोपहर को उठे थे उसी समय से वह पिशाची क्षुधा साथ-साथ फिरती और बढ़ती जाती थी। इसी प्रकार अन्य भी किसी दृष्ट पदार्थ से दुःख को सर्वथा निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि सांसारिक समस्त साधन जिनसे हम दुःख की निवृत्ति और स्थिर सुख का प्राप्ति की इच्छा करते हैं और इसी प्रयोजन से अनेक प्रकार के कष्ट सह कर भी उनके उपार्जन की चेष्टा करते हैं, वे सब स्वयं ही स्थिर नहीं, किन्तु प्रति क्षण नाशोन्मुख दौड़े जाते हैं, तब हमें क्या सुख दे सकते हैं? इस प्रकार विचारा जाए तो बहुत सहज में दृष्ट सांसारिक पदार्थों की असारता समझ में आ जाती है। तब फिर इनमें ऐसा राग करना जैसा कि सर्व साधारण करते हैं बुद्धिमान को नहीं रहता। जब यह समझ में आ जाता है तभी इन विषय भोगों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसी प्रकार जब अन्य देह-गेह आदि की भी नश्वरता समझ पड़ती है तब उनमें राग नहीं रहता और वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

इसी अध्याय के 3 सूत्र 24 में (बन्धोविपर्ययात्) कहा था, अतः आगे विपर्यय के 5 भेद वर्णन करते हैं-

विपर्ययभेदाः पञ्च ॥ ३७॥ (२४८)

विपर्यय के पांच भेद हैं।

योगदर्शन में इन्ही 5 विषर्ययों के नाम 5 क्लेश रखे गये हैं ॥ वे ये हैं- 1 अविद्या, 2 अस्मिता, 3 राग, 4 द्वेष, और 5 अभिनिवेश। इन पांचों के ज्ञानार्थ योगदर्शन पाद 2 सूत्र 3 से 9 तक देखिये।

सांख्यदर्शन के सभी टीकाकार और भाष्यकार एकमत से योगदर्शन वाले 5 क्लेशों को ही 5 विपर्यय सांख्य में कहे मानते हैं, अतः वह निर्विवाद ही है।

अब विपर्यय की कारण भूत अशक्तियों का वर्णन करते है-

अशक्तिरष्टविंशतिधा ॥ (२४९)

28 अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति है।

तुष्टिर्नवधा ॥ (२५०)

तुष्टि नौ प्रकार की होती हैं।

सिद्धिरष्टधा ॥ ३८,३९ ॥ ४० (२५१)

सिद्धि आठ प्रकार की होती हैं।

28 अशक्तियों के ये नाम हैं गुदा, उपस्थ, हाथ, पांव, वाणी ये 5 कर्मेन्द्रिय, कान, त्वचा, आंख, जीभ, नाक ये पांच ज्ञानेन्द्रिय, ग्यारहवां मन इनकी 11 अशक्ति अर्थात् क्रमशः उत्सर्ग की अशक्ति, आनन्द की अशक्ति करने की अशक्ति, गमन की अशक्ति, वचन की अशक्ति, श्रवण की अशक्ति, स्पर्श की अशक्ति, दर्शन की अशक्ति, चखने की अशक्ति, सूंघने की अशक्ति और मनन की अशक्ति, ये 11 अशक्ति हुई। 9 तुष्टि जिनका आगे वर्णन करेंगे उनके न होने से 9 प्रकार की अशक्तियां, आठ सिद्धि जिनका आगे वर्णन करेंगे, उनके न होने से 8 प्रकार की अशक्तियां, ये सब 11+9+8 मिलाकर 28 अशिक्तियां हैं ॥38॥ 9 तुष्टि उनमें 1 कोई तो प्राकृत के ज्ञानमात्र से तुष्ट हो जाता है 2 कोई संन्यास चिन्हों के धारण से सन्तुष्ट हो जाता है। 3 कोई ये समझ तुष्ट हो जाता है कि काल ही सब कुछ कर लेता है। 4 कोई भाग्य के भरोसे पर तुष्ट हो जाता है। 5 कोई ये समझ कर चुप बैठा रहता है कि विषयों का भोग अशक्य है। 6 कोई

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

विषार्थ कमाये धन की रक्षा में कष्ट देख कर तुष्ट हो जाता है। 7 कोई यह समझ कर तुष्ट हो जाता है कि मेरे भोग चाहे जितने हों, परन्तु उनसें भी अधिक अन्यों के पास है। 8 कोई इस कारण तुष्ट हो जाता है कि विषयों से तृप्ति तो होती ही नहीं। 9 कोई विषय भोग में दूसरों की हिंसा को देख कर उपरत हो बैठता है। इस प्रकार 9 तुष्टि हुई ।।39।। 8 सिद्धि योग में ये हैं, यथा-अणिमा, महिमा, गरिमा, लधिमा प्राप्ति प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। ये योगशास्त्र के विभूति पादस्थ 44वें सूत्र और उसकी व्याख्या में वर्णन किये हैं।

यथा-'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंप- त्तद्धर्मानभिवातश्च'

तब अणिमादि का प्रादुर्भाव ओर देह की सम्पदा (ऐश्वर्य) और उन (5 भूतों) के धर्मों से चोट न लगना होता है।

भृतजयमान 47वें योगसूत्र में कही सिद्धि का अनन्तर फल रूप ये 8 सिद्धियां और होती हैं। 1 अणिमा देह को सूक्ष्म कर सकना। 2 लधिमा देह को बोझ में हलका कर सकना। 3 महिमा देह को फैलाव में बड़ा कर सकना। 4 प्राप्ति-इष्ट पदार्थ को समीप प्राप्त कर सकना। ये 4 सिद्धियां या विभूतियां पांच 5 महाभूतों के 'स्थूल' रूप में संयम से उत्पन्न होती हैं। 5 प्राकाम्य इच्छा का पूरा होना, उसमें रूकावट न होना। यह 'स्वरूप' संयम का फल है। 6 वशित्व-महाभूतों और पांच भौतिक प्राणियों का वश में कर सकना। यह 'सूक्ष्म' रूप में संयम का फल है। 7 ईशितृत्व भूत और भौतिक पदार्थों को उत्पन्न और नष्ट कर सकना। यह व्यास भाष्य का मत है। भोजवृत्ति में देह और अन्तःकरण को अधिकार में कर लेना=ईशितृत्व कहा है। यह 'अन्वय' में संयम का फल है। 8-यत्र कामावसायित्व=जो संकल्प करे सो पूरा हो, यह 'अर्थवत्व' में संयम का फल है।'

परन्तु सांख्यकार आठ 8 सिद्धियां (ऊहा) आदि पृथक गिनावेगे। ये दोनों आचार्यों की दो भिन्न भिन्न कल्पनायें हैं, इतने से एक का दूसरे से विरोध नहीं होता।

37वें सूत्र में 'विपर्ययभेदाःपंच' कहा था, अब उन भेदों के अवान्तर भेद कहते हैं-

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ॥४१॥ (२५२)

अवान्तर भेद पूर्वाचार्यों के तुल्य जानो।

अन्य पहले आचार्य लोगों ने जितने अन्य अवान्तर भेद माने हैं वही सांख्याचार्य कपिल मुनि को इष्ट हैं, अतएव वे स्वयं अवान्तर भेदों की गणना

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नहीं करते। वे अवान्तर भेद इस प्रकार 62 हैं कि 1-अव्यक्त प्रकृति जो अनात्मा है उसको आत्मा या पुरुष समझना, 2 महतत्व बुद्धि को आत्मा समझना, 3 अहंकार को आत्मा समझना 4-8 रूप, रस, गन्ध शब्द स्पर्श इन 5 तन्मात्रों को आत्मा जानना, यह 8 प्रकार का तम नाम अविद्या संज्ञक विपर्यय उलटा ज्ञान है। 9-16 अणिमा आदि 8 सिद्धियों में यह विपरीत ज्ञान होना कि मैं अणु हूं, मैं गुरु=भारी हूं, मैं महान्=बड़ा हूं इत्यादि। यह अस्मिता अज्ञान 8 प्रकार का विपर्यय का अवान्तर भेद हुआ ।।17-26-5 दिव्य शब्द स्पर्श रूप, रस, गन्ध और 5 अदिव्य सब 10 प्रकार के विषयों में राग महामोह नामक 10 प्रकार का विपर्यय अवान्तर भेद जानिये। 27-44 अस्मिता के 8 विषय और राग के 10 विषय इन 18 विषयों के विघातक पदार्थों में क्रोध, द्वेष, तामिस्र नामक 18 प्रकार के अवान्तर भेद भी विपर्यय के ही अवान्तर भेद हैं ।।45-62 इन्हीं 18 विषयों के विनाश का अनुसंधान करने से जो 18 प्रकार के त्रास उत्पन्न होते हैं वे अभिनिवेश नामक अन्धतामिस्राऽपर नामक विपर्यय के 18 भेद गिन कर सब 62 विपर्यय के भेद हुवे जो 5 विपर्ययों के अवान्तर भेद हैं।

एवमितरस्याः ॥४२॥ (२५३)

इसी प्रकार इतर (अशक्ति) के भी (अवान्तर भेद पूर्वाचार्यों के प्रसिद्ध किये हुए ही जानने चाहिएं)।

इनका वर्णन सूत्र 38 में हम कर चुके हैं।

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥४३॥ (२५४)

आध्यात्मिक आदि भेद से तुष्टि 9 प्रकार की है।

इस का विवरण ऊपर 39 वें सूत्र के भाष्य में आ गया।

ऊहादिभिः सिद्धिः ॥४४॥ (२५५)

ऊहा आदिकों से सिद्धि (भेद वाली है)।

सिद्धि के ऊहा आदि भेद हैं, जो योगदर्शनोक्त 8 सिद्धियों के समान संख्या में 8 ही हैं। आंध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से 3 प्रकार के दुःखों का विघात होने से मुख्य 3 प्रकार की सिद्धियां हैं। उनके उपायभूत 5 अन्य हैं=इस प्रकार सब 8 हैं।

1-उपदेशादि के बिना ही पूर्व जन्म कृत कर्माभ्यास के वश से तत्व को स्वयं ऊहित कर लेना यह, 'ऊहा' नाम की सिद्धि है। 2-दूसरे को पढ़ते-पढ़ाते सुनकर या स्वयं बिना गुरू के शास्त्र को बांच कर तत्व जान लेना 'शब्द' नाम की दूसरी

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सिद्धि है। 3 गुरू-शिष्य भाव से शास्त्राऽध्ययन करके जो ज्ञान उपजता है वह 'अध्ययन' नाम की तीसरी सिद्धि है। 4-उपदेशार्थ स्वयं घर पर आये परम दयालु अतिथि आदि से ज्ञान का लाभ हो जाना 'सुहृत् प्राप्ति' नाम की चौथी सिद्धि है। 5-धन देकर प्रसन्न किये पुरुष से ज्ञान लाभ होना, दान नाम की 5वीं सिद्धि है। ये उपायभूत 5 सिद्धियां हुई, इनमें आध्यात्मिकादि दुःखत्रय के नाश रूप फलस्वरूप 3 सिद्धियां मिलाने से 8 हो जाती है।

नेतरादितरहानेन विना ॥४५॥ (२५६)

अन्य की हानि बिना अन्य (उपाय) से (सिद्धि) नहीं।

ऊहादि उपायों के अतिरिक्त अन्य किसी तप आदि उपाय से सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि तप आदि से 'इतर'=विपर्यय ज्ञान की हानि नहीं और विपर्यय ज्ञान हानि के बिना सिद्धि नहीं।

दैवादिप्रभेदा ॥४६॥ (२५७)

(सृष्टि) देवी आदि भेद वाली है।

अगले सूत्र में 'सृष्टि' पद आएगा, उसकी अनुवृत्ति करके सृष्टि के भेद देवी सृष्टि आदि हैं। सूर्यादि देवों की सृष्टि 'देवी' सृष्टि है, देवदत्तादि मनुष्यों की 'मानुषी' सृष्टि कहलाती है, सर्पादि तिर्यग्योनि के प्राणियों की रचना तिर्यक् सृष्टि समझनी चाहिए।

दैवी आदि अनेक विधि सृष्टियों का प्रयोजन-

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥४७॥ (२५८)

ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब= स्थावर पर्यन्त सृष्टि उस (पुरुष) के लिये है, (वह भी) विवेक होने तक।

चतुर्वेदज्ञ ब्रह्मा से लेकर वृक्षादि स्थावर योनि पर्यन्त जितनी सृष्टि हैं, सब पुरुष के लिये है, परन्तु वह भी विवेक होने तक अर्थात् विवेक=यथार्थ ज्ञान तथा तत्त्व ज्ञान होने पर पुरुष की सृष्टि नहीं होती।

सृष्टि का विभाग अगले सूत्रों में कहते हैं-

ऊर्ध्व सत्त्वविशाला ॥४८॥ (२५९)

जिसमें सत्वगुण बहुत है वह सृष्टि उच्च है।

तमोविशाला मूलतः ॥४९॥ (२६०)

नीचे से तमोगुण प्रधान सृष्टि है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मध्ये रजोविशाला ॥५०॥ (२६१)

बीच में सृष्टि रजोगुण प्रधान है।

क्यों जी! यह विचित्र सृष्टि प्रकृति से क्यों उत्पन्न होती है? एक समान ही सारी सृष्टि क्यों न हो गई? उत्तर-

कर्मवैचित्र्याप्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ॥५१॥ (२६२)

कर्मों की विचित्रता से प्रधान (प्रकृति) की चेष्टा गर्भ दास के समान है।

दो प्रकार के दास-सेवक हैं। एक जन्म दास जो जन्म के पश्चात् सेवा करते हैं, दूसरे गर्भ दास जो गर्भा धान समय से ही सेवक हैं। उनमें जन्म दास तो कोई सेवा करें, क़ोई न करते क्योंकि वह सेव्य का अनुनय करके किन्ही सेवाओं से अपने को बचा सकता है, परन्तु गर्भ दास को कोई अधिकार नहीं कि किसी प्रकार की सेवा से भी अपने को बचा सके। इसी प्रकार प्रकृति भी गर्भ दास के समान पुरुष की अनादि सेवक है, पुरुष अनादिकाल से जैसा विचित्र कर्म करता है प्रकृति को उनके फल भोगार्थ वैसी ही विचित्र सुष्टि रचनी पड़ती है। उसे क्या अधिकार कि एक ही प्रकार की सृष्टि रचे वह तो पुरुष की दासी (सेविका) है और दासी भी कैसी? जन्म दासी नहीं किन्तु गर्भ दासी। फिर भला प्रवृत्ति को स्वतन्त्रता कहां? वह तो पुरुष के कर्माधान हुई विचित्र कर्मों के भोगार्थ विचित्र सृष्टि के उत्पादन में विवश है।

इस विचित्र सृष्टि में यद्यपि सत्वगुणप्रधान उच्च सृष्टि भी है, परन्तु वह भी मोक्षार्थी को त्यागने ही योग्य है, सो कहते हैं-

आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेय ॥५२॥ (२६३)

उन (उच्च) सृष्टियों में भी एक के पश्चात दूसरी योनियों में जान आने का चक्र (आवृत्ति) चलता ही रहता है इस कारण वह उक्त गति भी त्याज्य है। क्योंकि-

समानं जरामरणादिजं दुःखम् ॥५३॥ (२६४)

बुढ़ापा और मृत्यु आदि से हुआ दुःख (वहां भी) समान है।

अर्थात् जैसे जन्म, मृत्यु, बुढ़ापे यहां दुःख हैं, वैसे ही उच्च योनियों में भी हैं। अतः मुमुक्षु को उनका भी लालच न होना चाहिए।

यदि कहो कि प्रकृतिलय में सब पदार्थ अपने-अपने कारण में लय हो जाएंगे तब जन्म-मरण आप ही छूट जायेगा, मुक्ति का यत्न व्यर्थ है? तो उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न कारणलयात्कृतकृत्याता मग्नवदुत्थानात् ॥५४॥ (२६५)

कारण में लय होने से (पुरुष को) कृतकृत्यता नहीं हो सकती, क्योंकि डुबकी लगाने वाले के समान फिर तिरता हुआ।

जैसे जल में विवश हो डूब जाने वाला फिर विवश फूल कर ऊपर ही आ जाता है, इसी प्रकार प्रकृति में लीन हो जाने वालों को भी विवश फिर जन्म लेना पड़ता है। इसलिये प्रकृति में लय मात्र से पुरुष कृतकृत्य नहीं हो सकता। किन्तु उस को मुक्ति के लिये यत्न करना चाहिए। जिनको विवेक नहीं हुआ, केवल वैराग्य हुआ है, वह प्रकृतिलीन कहलाता है।

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ॥५५॥ (२६६)

यद्यपि प्रकृति कार्य नहीं, तो भी परतन्त्रता से उस (दुःख) का योग होता है।

प्रकृतिलीन पुरुषों को इसलिये जन्म-मरण का चक्र नहीं छूटता कि यद्यपि प्रकृति कार्य पदार्थ नहीं, कारण पदार्थ है, परन्तु जड़ होने से परतन्त्र है, वह पुरुष को चक्र से निकाल नहीं सकती है।

यदि कहो कि प्रकृति की परतन्त्रता में 'पर' कौन है? जिस के 'तन्त्र' अधीन प्रकृति है? तो उत्तर-

स हि सर्ववित्सर्वकर्त्ता ॥५६॥ (२६७)

वह तो सर्वत्र और सबका कर्त्ता (परमात्मा स्वतन्त्र है)।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥५७॥ (२६८)

ऐसे (प्रकृति के नियन्ता सर्वज्ञ सर्वकृत) ईश्वर की सिद्धि (युक्ति और वेदादि के प्रमाणों से) सिद्ध है।

जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् 6-16।17।18। में प्रमाणित है कि-

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञःकालकारोगुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६॥

भाषार्थ- (यः) जो (प्रधान क्षेत्रपतिः) प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी, (गणेशः) गुणों को वश में रखने वाला (संसार मोक्षस्थिति बन्धहेतुः) संसार मोक्ष रक्षा और बन्धन का प्रायोजक है, (सः) वह (विश्वकृत) जगत् रचने वाला (विश्वविद्) और जगत का जानने वाला (आत्मयोनिः) स्वयंभू (ज्ञः) चेतन (कालकारः) कालविभाग का कर्त्ता (गुणी) सद्गुणों से युक्त (सर्ववित्) सर्वज्ञ है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स सन्मयोह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्यजगतो नित्यमेव नान्योहेतु र्विद्यतईशनाया ॥ १७॥

भाषार्थ- (सः) वह (तन्मयः) आत्ममय है, किसी अन्य का विकार नहीं (हि) निश्चय (अमृतः) अमर है, (ईशसंस्थः) एकरस है, (ज्ञः) चेतन है (सर्वज्ञ) विभु है (अस्य भुवनस्य, नित्यम् एव, गोप्ता) इस जगत की नित्य ही रक्षा करता है। (यः) जो (अस्य, जगतः) इस जगत की (ईशे) ईश्वरता करता है (ईशनाय) अधीन रखने के लिये (अन्य, हेतुः) अन्य, कारण (न, विद्यते) नहीं है ॥17॥

यो ब्राह्मण विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्चप्रहिणोति तस्मै।
तथ्ंः ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षवै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८॥

भाषार्थ- यहां श्वेता० उपनि० समाप्त होने को है इसलिये प्रत्येक ऋषि परमात्मा के शरण में आत्मसमर्पण करता है कि (यः) जो (पूर्वम्) आदि में (ब्रह्माणम्) वेदवेत्ता को (विदधाति) बनाता (च) और (तस्मै) उसके लिये (वेदान्) वेदों का प्रहिणोति) प्रदान करता है। (वै) निश्चय (तम्, आत्मबुद्धिप्रकाशम्, देवम्) उस आत्मा और बुद्धि के प्रकाश देव को (अहं, मुमुक्षुः) मैं, मोक्षार्थी (शरणं, प्रपद्ये) शरण आता हूं।

इस प्रकार सांख्यशास्त्रकार कपिल मुनि 56 वें सूत्र में जिस सर्वज्ञ जगदीश्वर का वर्णन कर आए, उसी को इस 57वें सूत्र में प्रमाण सिद्ध बताते हैं, तब न जाने किस आधार पर लोग कपिल मुनि को अनीश्वरादि कहने का पाप कमाते हैं।

प्रधानसृष्टिः परार्थ स्वतोप्यऽभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कु- मवहनवत्
॥५८॥ (२६९)

प्रकृत्ति की सृष्टि (महत्तत्वादि) पदार्थ ही है क्योंकि स्वतः अभोक्ता। होने से जैसे ऊंट का कुङ्कुम लादना।

जैसे ऊंट पराये लिये कुङ्कुम लाद ले चलता है, अपने लिये नहीं, वैसे ही प्रकृति भी अपने लिये सृष्टि को नहीं रचती, क्योंकि स्वयं जड़ होने से भोक्ता नहीं हो सकती, किन्तु पराये लिये, सृष्टि रचती है। वह 'पर' कौन है? पुरुष=जीवात्मा।

यदि कहें कि अचेतन प्रधान (प्रकृति) चेष्टा कैसे करती है=सृष्टि को कैसे रचती है? तो उत्तर-

अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥५९॥ (२७०)

दूध के समान अचेतन प्रकृति की भी चेष्टा सिद्ध है।।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसे दूध अचेतन है, तो भी बछड़े को बल, पुष्टि इत्यादि देता है, वैसे ही प्रकृति भी अचेतन और पराधीन= ईश्वराधीन है, तथापि पुरुष के लिये भोगों की चेष्टा करती है। अथवा-

कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः ॥६०॥ (२७१)

कालादि के काम के समान देखने से ।

अथवा जैसा काल दिशा अदृष्ट=प्रारब्ध इत्यादि भी अचेतन हैं, परन्तु पुरुष के लिये भोग-साधन बसन्तादि ऋतुओं को उत्पन्न करते ही हैं।, वैसे ही अचेतन भी प्रकृति पुरुष के लिये उसके कर्म फल भोग साधनीभूत सृष्टि को रचती है।

स्वभावच्चेष्टितमनभिसंधानाद् भृत्यवत् ॥६१॥ (२७२)

स्वभाव से (प्रकृति की) चेष्टा है जैसे बिना विचारे भृत्य की।

प्रकृति जड़ है, विचाररहित है। भले बुरे की अभिज्ञान नहीं रखती तो भी स्वभाव से ईश्वर को ऐसे काम देती है जैसे भृत्य अपने स्वामी को। भृत्यों को जो आज्ञा होती है, वही काम करने लग जाते हैं, यद्यपि वे न जानें कि हम क्यों यह काम कर रहे हैं, परन्तु स्वामी की आज्ञा के वशवर्त्ती अज्ञानी मूर्ख सेवक काम वही करते हैं, जो स्वामी कराता है।

कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः ॥६२॥ (२७३)

अथवा अनादि कर्मों से आकर्षण से (प्रकृति चेष्टा करती है)।

क्योंकि जीवों के कर्म अनादि हैं, उनके फल भोगवाने को ईश्वर के आकर्षण से प्रकृति चेष्टा करती है।

यदि कहो कि स्वभाव से या कर्मों के आकर्षण से सृष्टि है तो मुक्ति कभी न होगी? इसका उत्तर-

विविक्तबोधात्सृष्टि निवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत्पाके ॥६३॥ (२७४)

केवल बोध हो जाने से सृष्टि की निवृत्ति ऐसे समझिये जैसे पाक सिद्ध हो जाने पर सूद (रसोइये) की।

जैसे रसोइया उसी समय तक काम (आटा मलना, पोना, चलाना, छोंकना, भूनना इत्यादि) करता है जब तक कि पाक सिद्ध न हो जाए। जहां जान लिया कि पाक सिद्ध हुआ और रसोइया हाथ धोकर चुपचाप बैठ गया। इसी प्रकार जब तक पुरुष को प्रकृति और अपने तद्रिन्न चेतन अलिप्त स्वरूप का ज्ञान नहीं तब तक तन्निमित्त प्रकृति का काम सर्जनादि प्रवृत्त रहेगा, जहां काम पूरा हुआ, ज्ञान या विवेक हो गया कि झट प्रकृति कार्य उपरत हुए।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इतर इतरवत् तद्दोषात् ॥ ६४॥ (२७५)

उस (प्रकृति) के दोष से और भी और सा जान पड़ता है।

पूरुष चेतन ज्ञानी विवेकी स्वरूप से है, परन्तु और का और अर्थात् मूढ़ बन रहा है। इस का कारण प्रकृति का गुणत्रयात्मक दोष है।

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ॥ ६५॥ (२७६)

दोनों की या एक की उदासीनता मोक्ष है।

प्रकृति और पुरुष दोनों में उदासीनता हो जाए, एक-दूसरे का संग न करे, या एक पुरुष में उदासीनता आ जाए, तभी मुक्ति है।

अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते, प्रबुद्धरज्जु तत्त्वस्येवोरगः ॥ ६६॥ (२७७॥

(प्रकृति) औरों की सृष्टि के उपराग में भी विरक्त नहीं हो जाती, जैसे रस्सी का सांप वास्तविक रस्सी जान लेने वाले का।

जैसे रस्सी का बनावटी भ्रान्त्युत्पन्न सर्प, केवल उसी पुरुष को भ्रान्ति में डालना छोड़ देता है जिस पुरुष को वास्तविक ज्ञान हो गया कि रस्सी है, सर्प नहीं, परन्तु वही रस्सी अन्यों को (जिन्होनें ठीक रस्सी ही है, ऐसा नहीं जाना) तो भ्रम में डालती ही रहेगी, इसी प्रकार प्रकृति भी केवल उस पुरुष को बांध ना छोड़ देती है जिसने आत्म तत्व जान लिया, परन्तु अन्य अज्ञानियों फंसाये ही रहेगी, यह नहीं कि सबसे विरक्त हो जाए।

कर्मनिमित्त्योगाच्च ॥ ६७॥ (२७८)

और कर्मों के निमित्त मिलने से भी (प्रकृति अन्यों से विरक्त नहीं होती)।

जिन अन्य जीवों के कर्म फल भोग शेष हैं, उनसे इसलिये भी प्रकृति विरक्त या अलग नहीं हो जाती कि कर्म फल भुगवाना है।

क्यों जी! पुरुषों के प्रति यह प्रकृति क्यों काम में आती है जबकि प्रकृति को कोई अपेक्षा नहीं, तब निमित्त क्या है जिससे निरपेक्ष भी प्रकृति इतनी चेष्टा करती है? उत्तर-

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ॥ ६८॥ २७९

प्रकृत्युपकार की निरपेक्षता में भी अविवेक (सृष्टि का) निमित्त है।

नर्त्तकीवत्प्रवृत्तस्याऽपि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥ ६९॥ २८०

नटनी के समान काम कर चुकने से प्रवृत्त (प्रकृति) की भी निवृत्ति हो जाती है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जैसे नृत्य करने वाली नटनी नाच पूरा करने पर चुप हो बैठती है, वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति करती हुई भी प्रकृति अपना काम कर चुकने से निवृत्त उपरत हो जाती है।

दोषवोधेऽपिनोपसर्पणांप्रधानस्य कुलबधूवत् ॥७०॥ (२८१)

और दोष विदित होने पर भी प्रकृति का (पुरुष के) पास जाना नहीं हो सकता, कुलवधू के समान।

जैसे किसी कुलीन स्त्री का व्यभिचारादि दोष उसके पति को ज्ञात हो जाए तो लज्जादि के कारण वह ज्ञात दोषी कुलांगना निज पति के सामने जाती सकुचाती है और नहीं जा पाती, इसी प्रकार जिस पुरुष को प्रकृति के दोष परिणामीपन, दुःखात्मकपना आदि ज्ञात हो जाते हैं, फिर उस पुरुष के पास प्रकृति नहीं जा सकती।

यदि कहो कि प्रकृति के संग से जब पुरुष को बन्ध और संगत्याग से मोक्ष होता है, तब क्या पुरुष भी कभी बद्ध और कभी मुक्त होने में परिणामी है? उत्तर-

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याऽविवेकादृते ॥७१॥ (२८२)

अविवेक के बिना पुरुष के बन्ध और मोक्ष वास्तव में नहीं।

जीव स्वरूप से बद्ध कभी नहीं, किन्तु अविवेक से बद्ध है, जब वास्तव में बद्ध नहीं, तो बन्धाऽपेक्ष मुक्ति को भी वास्तविक कह नहीं सकते। किन्तु-

प्रकृतेराञ्जस्यात्पसंगत्वात्पशुवत् ॥७२॥ (२८३)

(बन्ध मोक्ष) प्रकृति के वास्तव से हैं, (क्योंकि वह) समंग है, जैसे पशु।

जैसे संग वाला पशु बन्धन में होता है, वैसे ही संगदोष वाली प्रकृति को बन्ध न वास्तव में है। पुरुष को तो अविवेक से बन्धन है।

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं
कोशकारवद्विमोचयत्येकरूपेण ॥७३॥ (२८४)

प्रकृति आत्मा को सात रूपों से बांधती है और 1 रूप से मुक्त करती है, जैसे मकड़ी ।

1 धर्म, 2 वैराग्य, 3 ऐश्वर्य, 4 अधर्म, 5 अवैराग्य, 6 अनेश्वर्य और 7 अज्ञान। इन सात रूपों=गुणों से प्रकृति आत्मा को बांधती है और एक=विवेक ज्ञान से आत्मा को छुटाती है। जैसे मकड़ी अपने में से तार पूर कर अपने आत्मा को उनमें फंसाती और फिर अपने आत्मबल से उसको तोड़कर छूट जाती है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi
नेति नेति = बारम्बार

निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः ॥७४॥ (२८५)

अविवेक के निमित्तपने से दृष्ट की हानि नहीं।

अर्थात् अविवेक से बन्ध है, यहां अविवेक शब्द से जो पंचमी विभक्ति है इससे कोई हानि नहीं, क्योंकि देखने में आता है कि केवल उपादान कारण में ही पंचमी नहीं देखी जाती, प्रत्युत निमित्त कारण में भी पंचमी होती है। क्योंकि अविवेक बन्ध का निमित्त है इसलिये निमित्त अविवेक शब्द से पंचमी विभक्ति ठीक ही है, इसमें हानि नहीं। विज्ञानभिक्षु आदि कई टीकाकार और भाष्यकारों के मत में इस सूत्र में 'इति' शब्द नहीं है।

अब विवेक सिद्धि का प्रकार बताते हैं-

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः ॥७५॥ (२८६)

तत्व के अभ्यास करने और नेति-नेति करके त्याग करने से विवेक सिद्ध होता है।

यह प्रकृति और उसके महदादि कार्य (नेति2) आत्मा या पुरुष नहीं है, ऐसा करके इन प्राकृत पदार्थों के त्यागने और शेष आत्मा नाम तत्व के बारम्बार अभ्यास करने से विवेक (प्रकृति पुरुष के भेद ज्ञान) की सिद्धि हो जाती है। तो क्या सबको एक ही जन्म में सिद्धि (विवेक ज्ञान) हो जाती है? उत्तर-

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ॥७६॥ (२८७)

अधिकारिप्रभेद से नियम नही।

क्योंकि अधिकारी कई प्रकार के होते हैं, कोई मन्द अधिकारी हैं उनको देर से, जो मध्यम अधिकारी हैं उनको उससे न्यून देरी से और जो उत्तम अधिकारी हैं उनको और भी शीघ्र विवेक हो सकता है, इसलिये कोई नियम नहीं कि विवेक एक जन्म में ही या 2।3 जन्मों में ही या 2।4 घड़ी में ही हो, कहां तक कहें किसी को एक क्षण में ही विवेक हो सकता है।

बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ॥७७॥ (२८८)

बाधित (दुःखों) की अनुवृत्ति से मध्यम विवेक होने पर भी उपभोग होता है।

मन्द और मध्यम कक्षा के विवेक होने पर भी बाधित दुःखों की अनुवृत्ति से भोग भोगना पड़ता है अर्थात् उत्तम कक्षा के विवेक से उपभोग निवृत्त होता है। परन्तु-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जीवन्मुक्तश्च ॥७८। (२८९)

जीवन्मुक्त तो हो जाता है।

मन्द या मध्यम विवेक द्वारा मनुष्य वर्तमान जन्म में अवशिष्ट आयुः काल में भोग तो भोगता रहता है, परन्तु पिछले कर्मों को भाग से निपटाता मात्र है। आगे को बन्ध हेतु कर्म नहीं करता है और इससे वह जीवनमुक्त हो जाता है।

यदि कहो कि उपभोग करता हुआ या भला जीवनमुक्त कैसे हो सकता है । तो उत्तर-

वपदेश्योपदेष्दत्वात् तत्सिद्धिः ॥७९॥ (२९०)

उपदेश्य और उपदेशक भाव से उस (विवेक) की सिद्धि हो जाती है।

मन्द या मध्यम विवेकी उपदेश्य (उपदेश लेने वाला) बनता और उत्तम विवेकी उपदेश को पाकर मध्यम विवेकी जीवनमुक्त हो जाते हैं।

श्रुतिश्च ॥८०॥ (२९१)

श्रुति भी है।

'आचार्यवान् पुरुषों वेद तस्य तावदेव चिरंयावन्न' इत्यादि छान्दोग्य 6।14।2 में भी लिखा है कि यदि एक पुरुष को गन्धार देशों के जंगलों में आँखों पर पट्टी बांधकर उसे अन्य देशों में जाकर छोड़ दें और आँखों की पट्टी खोलकर बता दें, कि देखो इस दिशा में गन्धार तेरा देश है, जहां से आंख मीच कर तू लाया गया है, अब तू इसी दिशा को चला जा, गन्धार पहुंच जायेगा। इस दशा में वह एक गांव से दूसरे गांव को पूछता-पूछता अपने देश में जा पहुंचेगा। इसी प्रकार पुरुष जोकि अविवेक रूप पट्टी को आँखों पर बांधकर संसार में आया है, यदि इसकी पट्टी खोल दी जाए अर्थात् कुछ मन्द या मध्यम भी विवेक इसको हो जाए तो फिर यह उत्तम विवेकियों से मार्ग पूछ-पूछ कर विवेक की उन्नति करता हुआ जीवनमुक्त हो सकता है।

इतरथाऽन्धपरंपरा ॥८१॥ (२९२)

नहीं तो अन्य परम्परा होती है।

यदि उपदेश्य उपदेशक भाव न हो तो अन्धपरम्परा अर्थात् एक अविवेकी अन्धे के पीछे दूसरा अंधा अविवेकी उसके पीछे तीसरा, चौथा आदि सब अंधों ही की परम्परा लगातार हो तो कोई किसी को मार्ग नहीं बता सकता।

यदि कहो कि विवेक से प्राकृत पदार्थों की निवृत्ति होने पर शेष आयु में इस जीवन्मुक्त का देह ही क्यों रहता है? तो उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

चक्रभ्रमणवद्धृतशरीरः ॥८२॥ (२९३)

चक्र भ्रमण के समान शरीर को धारण किये रहता है।

जैसे चक्र को कुम्भकार दण्ड से एक बार बलपूर्वक घुमा देता है और फिर दण्ड को हटा भी लेता है तो भी चक्र (चाक) बहुत देर तक घूमता ही रहता है जब तक पूर्व का बल समाप्त न हो जाए। इसी प्रकार कर्म रूप दण्ड से ईश्वर का घुमाया हुआ यह मनुष्य देह रूप चाक तब तक घूमता रहता है जब तक पूर्व प्रारब्ध कर्मों का प्रभाव शेष है, इस प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष को प्रारब्ध कर्मफल भोगार्थ देह धारण किये रहना पड़ता है।

यदि कहो कि चक्र तो पूर्व दण्ड भ्रामणाऽधीन संस्कारयुक्त होने से घूमता रहता है। तो उत्तर-

असंस्कारलेपतस्तत्सिद्धिः ॥८३॥ (२९४)

(पूर्व) संस्कारों के लेश से ही उस (जीवन्मुक्त) के शरीर यात्रीपभोग की सिद्धि है।

विवेकान्निःशेषदुःखिनिवृत्तो कृतकृत्योनेतरान्नेतरात् ॥८४॥ (२९५)

विवेक से सर्व दुःख निवृत्त होने पर कृतकृत्य (कृतार्थ=मुक्त) होता है, अन्य (साधन) से नहीं।

'नेतरात्' यह द्विरूक्ति अध्यायसमाप्ति सूचनार्थ है।

■■■

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ चतुर्थोऽध्यायः

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तृतीयाध्याय में स्थूल देह, लिंग देह, सृष्टि अनेक वैराग्य के साधन विवेक और जीवन्मुक्ति तथा केवल मुक्ति का वर्णन करके अब चतुर्थाध्याय में आत्मतत्वोप देशादि विवेक ज्ञान के साधनों में ऐतिहासिक दृष्टान्त देकर पुष्टि करते हैं। यह छोटा सा चतुर्थाऽध्याय इसी ऐतिहासिक परम्परा में है।

तथा

राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् ॥ १॥ (२९६)

तत्वोपदेश से राजपुत्र (रामचन्द्र जी) के समान (विवेक) हो जाता है।

जैसे राजा दशरथ के पुत्र श्री रामचन्द्र जी श्री वशिष्ठ मुनि के उपदेश से विवेक ज्ञान हो गया इसी प्रकार अन्यों को भी गुरुकृत तत्वोपदेश से विवेक और विवेक द्वारा मुक्ति प्राप्त हो जा सकती है। इतना ही नहीं बल्कि-

पिशाचवदन्योर्थोपदेशेऽपि ॥२॥ (२९७)

अन्यार्थ उपदेश में भी विवेक हो जाता है जैसे पिशाच को।

जैसे महादेव जी पार्वती को उपदेश कर रहे थे, समीप बैठा पिशाच भी ध्यानपूर्वक सुनता रहा। इस प्रकार अन्यार्थ उपदेश सुनकर पिशाच को भी विवेक ज्ञान द्वारा मुक्ति मिल गई। इसी प्रकार एक को उपदेश होते हुए जो अन्य लोग भी ध्यानपूर्वक सुनें, तदनुकूल आचरण करें उन को भी विवेक हो सकता है ॥2॥ यदि एक बार के उपदेश से विवेक न हो तो-

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ ३॥ (२९८)

अनेक नार उपदेश से आवृति (अभ्यास) करना चाहिए ॥3॥

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि कहो कि पिता पुत्र को अनेक बार उपदेश दे सकता है, न कि गुरु? तो उत्तर-

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥४॥ (२९९)

पिता-पुत्र के समान दोनों (गुरु शिष्यों के भी देखने से)।

देखा जाता है कि जैसे पिता अपने पुत्र को अनेक बाद उपदेश देकर समझाता है। इसी प्रकार गुरु भी शिष्य पर दया करके अनेक बार उपदेश देकर विवेक ज्ञान उत्पन्न कराते हैं।

अब विवेकों का निज विवेक की दृढ़ता के लिये क्या करना चाहिये सो बताते हैं-

श्येनवत्सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥५॥ (३००)

त्याग और वियोग से श्येन (बाज पक्षी) के समान सुखी और दुःखी होता है।

अपने आप स्वतन्त्रता से किसी विषय को छोड़ देना 'त्याग' कहलाता है, और विवश होकर, उस विषय को न पा सकना वियोग कहाता है। कोई श्येन (शिखरा=बाज पक्षी) मांस के टुकड़े को लिये जा रहा था, उस पर अन्य श्येन पक्षियों का धावा हुआ कि उसके उस मांस को छीनें। इस दशा में यदि वह श्येन स्वतन्त्रता से उस मांस खण्ड को छोड़ दे तब तो सुखी हो जाए, फिर कोई दूसरा श्येन उससे छीन झपट न करे, परन्तु यदि अपने आप स्वतन्त्रता से न छोड़े, किन्तु अन्य पक्षी उससे बलात् मांस छीन कर उसको मांस से वियोग करा दें तो उसे बड़ा दुःख और सन्ताप होगा कि मांस खण्ड भी गया और छीन झपट की चोट लगी, वे पृथक दुःखती हैं। इस प्रकार विचार कर विवेकी को विषयों का स्वतन्त्रता से त्याग रखना चाहिये। अथवा-

अहिनिर्ल्वयिनीवत् ॥६॥ (३०१)

सांप और केंचुली (त्वचा) के समान (जानो)।

जैसे सांप को पकड़ कर कोई उसकी केंचुली उतारे तो सांप को बड़ा दुःख होगा, परन्तु यदि सांप स्वयं केंचुली को छोड़ देता है तो उसे दुःख नहीं होता। ऐसे ही स्वयं विषयों के त्यागी सुखी रहते हैं, परन्तु परतन्त्रता से विषयों के न मिलने या छिनने से बड़ा दुख होता है। अथवा-

छिन्नहस्तवद्वा ॥७॥ (३०२)

छिन्नहस्त के समान (सुखी हो जाता है)।

किसी के हाथ में ऐसा फोड़ा निकला है कि आराम ही न हो तो यदि वह हाथ

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

के लालच में रहेगा तो सदा दुःख पाएगा और यदि अपने आप प्रसन्नता से हाथ को ही दुःख का हेतु जानकर कटवा डाले तो फिर वह दुःख भोगना नहीं पड़ता। इसी प्रकार विषयों के न त्यागने में दुःख देखता हुआ पुरुष उसको अपने आप त्याग दे तो सुखी रहता है। दुःख निवृत्त हो जाते हैं।

असाधनाऽनुचिन्तन बन्धाय भरतवत् ॥८॥ (३०३)

असाधन को साधन जानकर बार-बार चिन्तन करना 'भरत' के समान बन्धनार्थ होगा।

विषय वास्तव में सुखों का साधन नहीं, बस लोग इन असाधन विषयों को साधन जानकर इनकी निरन्तर चिन्ता में लगे रहते हैं, वे बन्धन में पड़ते हैं। जैसे राजर्षि भरत को हिरण के बच्चे की ममता और अनुचिन्तन ने बन्धन में डाल दिया था। उसे सदा हिरण का बच्चा याद आता रहता था।

बहुभिर्योगे विरोधारोगादिभिः कुमारीशंखवत् ॥९॥ (३०४)

बहुतो के संग से विरोध होगा क्योंकि राद्वेषादि होंगे, जैसे कुमारी के शंकों में। विवेकी या विवेकार्थी को एकान्त सेवन करना चाहिए।

यदि वह बहुतों के समीप मिल कर रहेगा तो किसी न किसी कारण रागद्वेषादि से विरोध होगा, विरोध में दुख होगा। जैसे एक कुमारी कई शंख की चूड़ी पहन रही थी, वे चूड़ी आपस में लड़कर बोलती थीं, उसने एक चूड़ी निकाल दी, तब भी लड़ कर झन-झन होती ही रही, दूसरी तीसरी आदि निकालते-निकालते जब एक चूड़ी रह गई तो लड़ना बन्द हो गया। इसी प्रकार एकान्त सेवन से विरोध बन्द हो जाता है।

इतना ही नहीं कि बहुतों के संग से विरोध होता है। किन्तु-

द्वाभ्यामपि तथैव ॥१०॥ (३०५)

दो से भी वैसा ही (विरोध रहता है)

इसलिये केवल एकला एकान्त सेवन करे।

निराशः सूखी पिङ्गलावत् ॥११॥ (३०६)

पिगना नाम्नी वेश्या के समान निराश पुरुष सुखी रहता है।

कोई पिंगला नाम की वेश्या थी, जो वेश्यागामी, दुराचारी पुरुषों की आशा में कि कब आएं कब कुछ हाथ लगे, दुःखी, चिन्तातुर बैठी थी किन्तु जब उसने दुर्जनों के आगमन की आशा छोड़ दी तो सुखिनी हो गई। इसी प्रकार जो पुरुष सब प्रकार की आशाओं का त्याग कर देते हैं, वे सुखी हो जाते हैं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥ १२॥ ३०७

बिना आरम्भ के भी सुखी रहता है जैसे पराये घर (बिल) में सर्प।

मूषकादि को बिल खोदने बनाने का दु:ख भोगना पड़ता है, लोग एक बिल (भट्ट) को बन्द कर देते हैं तब दूसरा बिल (भट्ट) बनाना पड़ता है, परन्तु सांप को देखो जो कभी अपना बिल नहीं खोदता, सदा जो छिद्र मिल गया वहीं घुस बैठता है। उसे घर बनाने, लीपने, पोतने, ढाने, चिनवाने का कोई दु:ख नहीं। इसी प्रकार पुरुष को जो वैराग्यवान् हो सांप से सीख कर कहीं घर न बनाए किन्तु एकान्त वन पर्वत गुफा आदि में प्रारब्धकर्मानुकूल जो मिल जाए उसीसे निर्वाह कर ले तब सुखी हो जाता है। तथा-

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादान षट्पदवत् ॥ १३॥ (३०८)

बहुत से शास्त्रों और गुरुओं की उपासना में सारमात्र का ग्रहण करे जैसे भौंरा।

जैसे भ्रमर अनेक पुष्पों के पास जाता है परन्तु किसी पुष्प की पंखुड़ी कुतर कर तोते के समान खाता नहीं, किन्तु सार रूप सुगन्धमात्र का ग्रहण करके हट जाता है, इसी प्रकार शास्त्रों और गुरुओं से अनेक शिक्षा पाता हुआ भी केवल विवेकोत्पादक सारांशमात्र का ग्रहण करे, अन्य वाद-विवादों को त्यागता रहे।

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ॥ १४॥ (३०९)

तीरगर (इषुकार) के समान एकग्रचित्त की समाधि में हानि सम्भव नहीं।

कोई तीरगर तीर बना रहा था और सर्वथा अपने काम में ही चित्त लगाये था, उसके सामने को राजा की भारी सेना निकल गई तो भी उसने न जाना कि कौन आता या जाता है। इसी प्रकार एकाग्रचित्त वाले पुरुष की समाधि में बाह्य खटपटे विघ्न नहीं कर सकती। इस लिये विवेकी या विवेकार्थी को एकाग्रमना होना चाहिए।

अब नियम से रहने का उपदेश करते हैं कि-

कृतनियमलंघनादानार्थक्य लोकवत् ॥ १५॥ (३१०)

धारण किये नियम के लंघन से अनर्थ होता है जैसे लोक में।

जैसे लोक में रोगी लोगों को वैद्य लोग जिस प्रक़ार के पथ्यादि नियम का धारण कराते हैं, तब यदि रोगी जिह्वा लोलुप होकर पथ्यादि नियम का उल्लंघन करे=तोड़े, तो रोगी का अनर्थ होता है, वैसे ही विवेकार्थी पुरुष गुरुपदिष्ट ब्रह्ममुहूर्त्त में उत्थान, स्नान, शौचादि नियमों का उल्लंघन करेगा तो अर्थ सिद्धि में बाधा पड़ कर अनर्थ होगा, इस कारण नियम से रहना चाहिए।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥१६॥ (३११)

उस (नियम) के भूलने पर भी भेकी के समान (अनर्थ होता है)।

भेकी नाम्नी राज कन्या ने अपने पति राजा से कोई नियम कर लिया था कि इस का उलंघन करोगे तो मुझ से वियुक्त हो जाओगे, राजा ने जान कर नहीं किन्तु भूल कर वह नियम उल्लंघित कर दिया। इतने से भी राजा को भेकी के वियोग जनित दु:ख को भोगना पड़ा। इसी प्रकार विवेकी पुरुष को भूल से भी नियम के उलंघन में अनर्थ होता है।

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥१७॥ (३१२)

उपदेश सुनने पर भी परामर्श के बिना कृतकृत्याता नहीं हो सकती, जैसे विरोचन को।

जैसे विरोचन ने गुरुमुख से ज्ञान सुना, परन्तु अपने आत्मा में मनन=विचार नहीं किया तो उस को किसी प्रकार कृतकृत्यता (कामयाबी) नहीं हुई, इसलिये विवेकी के उपदेश को उपदेश सुन कर विचार करना चाहिए।

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥१८॥ (३१३)

उन दोनों में से इन्द्र को (तत्वज्ञान) देखा गया है।

यद्यपि इन्द्र और विरोचन दोनों शिष्यों ने एक साथ एक ही गुरु=प्रजापति से उपदेश श्रवण किया, परन्तु उन दोनों में इन्द्र ने उपदेश श्रवण करके परामर्श किया, उसे तत्व ज्ञान हुआ, विरोचन ने परामर्श नहीं किया, अत: उसको इन्द्र के साथ ही उन्ही प्रजापति गुरु से उपदेश श्रवण करने पर भी तत्व ज्ञान न हुआ। अतएव उपदेश श्रवण कर के परामर्श=मनन, विचार अवश्य करना चाहिए।

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्वहुकालात्तद्वत् ॥१९॥ (३१४)

प्रमाण और ब्रह्मचर्य का धारण तथा समीप गमन करके सिद्धि होती है सो भी बहुत काल में उस इन्द्र के समान।

जैसे इन्द्र ने विधिपूर्वक गुरु प्रजापति को विनय से प्रणाम करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत से रहते हुए तथा गुरु के समीप निवास करते हुए बहुत काल में सिद्धि पाई, वैसे ही प्रत्येक तत्व ज्ञानार्थी विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत के धारण, गुरु की विधि पूर्वक अभिवादन प्रणामादि करके उनकी सेवा में उपस्थित रहकर बहुत काल में तत्व ज्ञान पाने को आशा रखनी चाहिए। परन्तु-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न काल नियमी वामदेववत् ॥ २०॥ (३१५)

वामदेव के समान काल का नियम नहीं।

वामदेव को पूर्व जन्मकृत पुण्यप्रताप से ऐसी प्रतिभाशालिनी मेधा बुद्धि प्राप्त थी, कि अल्प काल में ही उसको तत्व ज्ञान हो गया इसलिये उच्च अधिकारियों के लिये बहुत काल का नियम आवश्यक नहीं। यदि कहो कि सामान्य जनों को विवेक ज्ञान प्राप्ति में बहुत समय क्यों लगता है? तो उत्तर-

अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव।

अध्यस्त स्वरूप की उपासना से याज्ञिकों के समान परम्परा से (विवेक ज्ञान प्राप्त होता है) ।

जिज्ञासु को प्रथम साक्षात् पुरुष के स्वरूप का ज्ञान तो होता ही नहीं, किन्तु प्रथम जिज्ञासु गुरु के उपदिष्ट पुरुष स्वरूप पर ही विश्वास कर लेता है और जैसा उपदेश का दिया जाता है, उसी की उपासना करने लगता है अर्थात् गुरु कृत उपदेश को श्रद्धा से वह मान लेता है, उसको स्वयं तो कोई ज्ञान होता ही नहीं। बस (बिना जाने) केवल माने हुए स्वरूप की उपासना का नाम अध्यस्त स्वरूप आत्म तत्व की उपासना करते-करते परम्परा से तत्व ज्ञान देर में ही हो सकता है। जैसा कि याज्ञिक लोग यज्ञ के परलोक फल को पहले मान लेते हैं और यज्ञानुष्ठान करने भी लगते हैं तब उनको लोकान्तर में पीछे उसका फल मिलता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानार्थी या विवेकार्थी पुरुष को प्रथम गुरु में श्राद्धा करके आत्मा मान लेना चाहिये। मान कर गुरु को उपदिष्ट रीति से नित्य-नित्य उपासना का अभ्यास करना चाहिये पीछे से आत्मा वैसा ही जैसा गुरु ने बताया था, मिल जाता है।

कई लोग 'अध्यस्त' शब्द आ जाने से 'मिथ्या' अर्थ लेकर मिष्ट्यामूर्त्तियों की उपासना का अर्थ निकालते हैं, परन्तु यहां अध्यस्त का अर्थ यही है कि केवल सुनकर माना हुआ न कि स्वयं जाना हुआ। यदि मिथ्या स्वरूप को ग्रहण करें तो तद्द्वारा सत्यस्वरूप की प्राप्ति न होगी। केवल हम ही ऐसा अर्थ नहीं लेते किन्तु हमसे बहुत पुराने 'महादेव वेदान्ती' भी अपनी सांख्या सूत्र वित्ति में यही लिखते हैं कि-

अध्यस्तस्योपदिष्टस्य रूपस्य स्वरूपस्य।

वे और भी स्पष्ट कहते हैं कि-

ध्याने दर्शनं नापेक्ष्यतेऽपि तु ज्ञानम्।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अर्थात् ध्यान में कोई वस्तु दिखने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जानने मात्र की है। स्वामी श्री हरिप्रसाद जी भी वैदिक वृत्ति में-

गुरुभिरुपदिष्टं रूपमधयस्तरूपम्॥

यही लिखते हैं।

इतरलाभेप्यावृत्तिःपंचाग्नियोगती जन्मश्रुतेः ॥२२॥ (३१७)

इतर (मोक्ष पद से भिन्न कोई अन्य उत्तम गति) मिलने पर भी पांच अग्नियों के योग से जन्म होना सुना जाता है, इसलिये आवृत्ति (पुनर्जन्म) होता है।

मुक्ति के अतिरिक्त अन्य सब्र उत्तम गतियों में गर्भवास और जन्म होता है, क्योंकि उन सब उत्तम गतियों में पंचाग्नियों का योग होगा। वे 5 अग्नि जो जन्म लेने में पुरुष को झेलनी पड़ती हैं, जिनका संकेत विज्ञानभिक्षु आदि कई भाष्यकार और टीकाकारों ने किया है, उन पंचाग्नियों का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक 5 खण्ड 4 से 8 तक पूरा उद्धृत करते हैं।

असौ बावलोको गौतमाग्निस्तस्यादित्यएव समिदश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमाअङ्गारानक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौदेवाः श्रद्धां जुव्हति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति ॥२॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥४॥

पर्जन्यो बावगौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रधूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गाराहादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमᳬं राजानं जुव्हति तस्या आहुतेर्वर्षᳬं सम्भवति ॥२॥

इति पंचमः खण्डः ॥५॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एवं समिदाकाशी घूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशोविस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्ष जुहूति तस्या अहुतेरन्नᳬं सम्भवति ॥२॥

इति पष्ठः खण्डः ॥६॥

पुरुषों वाब गौतमाग्निस्तस्य बागेव समित्प्राणो धूमो जिव्हाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेत स्मिन्नग्नौ देवाअन्नं जुव्हति तस्या आहुतेरेतःसम्भवति

इति सप्तमः खण्डः ॥७॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स घूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा आन नन्दा बिस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नऽग्नौ देवा रेतो जुव्हाति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवि ॥२॥

इत्याष्टमः खण्डः ॥८॥

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

1- अग्नि द्युलोक है जिसकी समिधा सूर्य लोक है किरणें धुंआं हैं, दिन लपट हैं, चन्द्रमा अंगारे हैं, नक्षत्र चिनगारियां है ।।1।।

उस इस अग्नि (द्युलोक) में देवता श्रद्धा का होम करते हैं। उस आहुति से औषधिराज सोम उत्पन्न होता है ।।2।। (4)

2- अग्नि मेघ है, वायु उसकी समिधा है, हलके बादलों की घटा धुंआं है, बिजली जो बादलों में चमकती है वह लपट है, वज्रपात अंगारे हैं, हादुनि (बिजली का भेद ही) चिनगारियां हैं उस इस अग्नि (मेघ में देवता सोम का होम करते हैं, उस आहुति से वर्षा होती है ।।2।। (5)

3- अग्नि पृथ्वी है, उसका संवत्सर समिधा है, आकाश धुआं है, रात्रि लपट है, दिशाएं अंगारे हैं, आवान्तर दिशा चिनगारियां हैं ।।1।। उस इस (पृथ्वी रूप) अग्नि में देवता वृष्टि का होम करते हैं, उस आहुति से अन्न उपजता है ।।2।। (6)

4- अग्नि पुरुष है, वाणी उसकी समिधा है, प्राण धुआं है जिव्हा लपट है, आंख अंगारे हैं, कान चिनगारियां हैं ।।1।। उस इस अग्नि (पुरुष में देवता अन्न खुराक=भोजन) का होम करते हैं, जिससे वीर्य उत्पन्न होता है ।।2।। (7)

5- अग्नि स्त्री है, उपस्थ उसकी समिधा है, उपमन्त्रण धुआं है, योनि लपट है, संभोग अंगारे हैं, आनन्द चिनगारियां हैं ।।1।। उस इस (स्त्री) अग्नि में देवता वीर्य का होम करते हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ।।2।। (8)

इस प्रकार क्रम से द्युलोकादि पांच अग्नियों के योग से फिर जन्म हो जाता है ।।22।।

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ॥ २३॥ ३१८

विरक्त, त्याव्य के त्याग और ग्राह्य के ग्रहण को ऐसे करता है जैसे हंस दुग्ध को।

जिस प्रकार हंस जल दुग्ध मिले रहने पर भी ग्राह्य दुग्ध को ग्रहण कर लेता है और त्याज्य जल का परित्याग कर देता है, इसी प्रकार विरक्त=वैराग्यवान् विवेकार्थी जन संसार में त्याज्य का त्याग और प्राग्राह्य पदार्थों का ग्रहण करता है।

तथाहि गीतायाम्-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकांचनः ।गी०।। ।६।८।।
संकल्पप्रभावान्कामान, त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ।।६।२४।।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

शनैःशनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्तो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥,
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्पमषम् ॥२७॥
युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखंमश्नुते ॥२८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥६।२९॥

अर्थ- ज्ञान विज्ञान से आत्मा जिसका तृप्त है, ऐसा स्थिर, जितेन्द्र, लोष्ट, पाषाण, सुर्वण को एक सा समझ कर त्यागने वाला योगी "युक्त" कहलाता है ॥6॥8॥

संकल्प से उत्पन्न हुए समस्त कामों को निःशेष त्याग कर और मन से चारों ओर से इन्द्रियों को नियम में करके- (6।24) शनैः-शनैः हट जाए। आत्मा में मन को स्थिर करके, धैर्य से पकड़ी हुई बुद्धि द्वारा कुछ भी चिन्तन न करे। (25) चंचल अस्थिर मन जिधर-जिधर को भागे उधर-उधर से इसको रोक कर आत्मा में ही बशवर्त्त करे। (26) इस शान्तमनस्क, शान्तरजोगुण, पापरहित, ब्रह्मनिष्ठ योगी को उत्तम सुख मिलता है। (27) इस प्रकार सदा आत्मा को युक्त करता हुआ निष्पाप योगी सुगमता से ब्रह्म के स्पर्शयुक्त अत्यन्त सुख को भोगता है (स्पर्श का अर्थ यहां त्वचा का विषय नहीं है, किन्तु व्यापकता का अनुभव है, क्योंकि 'अशब्दमस्पर्श- मरूपमव्यम्" इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म को त्वचा का अविषय होना सिद्ध है (28)। योग में जिसने अपने को लगा दिया वह सब में समान बुद्धि (दृष्टि) रखने वाला योगी आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में साक्षात करता है।

इस प्रकार के पुरुष को इस सांख्य सूत्र में "विरक्त" कहा गया है॥

तथा च मनु-

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञयो जितेन्द्रियः ॥२।२९॥

श्रवण, स्पर्श, दर्शन, भोजन और सूंघ का जो सब इन्द्रियों के भोगों में हर्ष या ग्लानि नहीं करता, वह जितेन्द्रिय है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

लब्धाऽतिशययोगाद्वा तद्वत् ॥ २४॥ (३१९)

जिस को अतिशय=ज्ञान की परकाष्ठा मिल गई है, उन के योग=सत्संग से भी हंस के समान (त्योज्यांश का त्याग और ग्राह्यांश का ग्रहण करना सम्भव है।।। जैसा कि गीता के 18 वें अध्याय में कहा है कि-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाऽधिगच्छति ॥४९॥
सिद्धिं प्राप्ता यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध में।
समासेनैव कौन्तेय! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्याऽतिशुद्धया युक्तो धृत्वात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥
विविक्तसेवी लब्धाशीर्यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥
अहंकारं बलं दर्प कामं क्रोधं परिग्रहम॥
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

सब जगह बुद्धि को न फंसाने वाला, मन को जीतने वाला, निर्लोभ पुरुष संन्यास द्वारा निष्कर्मा होने की परमसिद्धि को प्राप्त होता है ।।49।। सिद्धि को पाने वाला जिस प्रकार से ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार मुझसे समझो, संक्षेप से ही, जो ज्ञान की पराकाष्ठा है ।।50।। अति शुद्ध बुद्धि से युक्त, धृति से मन को वश में करके और शब्दादि विषयों का त्याग करके तथा राग-द्वेष को दूर हटा कर ।।51।। एकान्तसेवी, आशीर्वाद का पाने वाला, वाणी, देह और मन का संयम करने वाला, नित्य ध्यानयोग का अभ्यास करने वाला, वैराग्य का सहारा लेने वाला ।।52।। अहंकार, बल, गर्व , काम, क्रोध और संग्रह को छोड कर ममत्वरहित शान्त पुरुष ब्रह्मा को पाने में समर्थ होता है।

ऐसे लब्धातिशय ज्ञानी के सत्संग से भी हंस के समान विवेक प्राप्त होता है।

न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ॥ २५॥ (३२०)

राग में मारे हुए में स्वतन्त्र घूमना नहीं बनता, जैसे तोते में।

तोता अच्छी बोली बोलकर अन्यों से राग उत्पन्न कर लेता है, राग से नष्ट होकर पिंजरे में पड़ा रहता है, स्वतन्त्र नहीं घूम सकता।

रागी को स्वतन्त्रता न होने का कारण यह है कि-

गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् ॥ २६॥ (३२१)

गुणों के योग से बन्धन में पड़ता है तोते पक्षी के समान।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥ २७॥ (३२२)

भोग से राग की शान्ति नहीं हो सकती, जैसे (सौभरि) मुनि की। किन्तु-

दोषदर्शनादुभयोः ॥ २८॥ (३२३)

दोनों (प्रकृति और उसके कार्यों) के दोषों को देखने से (राग शान्त होता है)।

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥ २९॥ (३२४)

राजा 'अज' के समान मलिन चित्त वाले में उपदेश रूपी बीज जमता नहीं और-

नाभासमात्रमपि मलिन दर्पणवत् ॥ ३०॥ (३२५)

न झलक मात्र भी (दिखती है) जैसे (मलिन) दर्पण में।

जैसे मलिन दर्पण में मुख की छाया नहीं दिखती, इसी प्रकार मलिन चित्त में विवेक की परछाई भी नहीं पड़ती।

न तज्जस्याऽपि तद्रूपता पङ्कजवत् ॥ ३१॥ (३२६)

तदुत्पन्न में भी तद्रूपता नहीं, जैसे कमल में।

यह नियम नहीं हो सकता कि गुरु के उपदिष्ट ज्ञान में भी गुरु की तुल्यता नहीं हो सकती। जैसे कमल पानी में उत्पन्न होता है, परन्तु पानी का काम नहीं दे सकता, इसलिये दूर से पत्र पुस्तकादि द्वारा बताया हुआ ज्ञान भी साक्षात् गुरु की सेवा में रहकर ज्ञान प्राप्ति के समान नहीं हो सकता।

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्य सिद्धिवदुपास्य सिद्धिवत् ॥ ३२॥ (३२७)

भूति (ऐश्वर्य) के मिलने पर भी कृतकृत्यता नहीं हो सकती जैसी कि उपास्य की सिद्धि में।

उपास्य (विवेक ज्ञान) की प्राप्त रूप सिद्धि के समान कृतकृत्यता अणिमादि सिद्धियों के मिलने पर भी नहीं हो सकती क्योंकि जो संयोग एक देशी पदार्थो के हैं वे सब वियोगान्त हैं बस अणिमादि सिद्धियां भी वियोगान्त ही है।

'उपास्यसिद्धिवत' यह द्विरूक्ति अध्याय समाप्तिसूचनार्थ है ॥ ३२॥

आत्मतत्वोपदेशादि विवेक ज्ञान के साधन इतिहासों से भूषित करके इस चतुर्थाध्याय में वर्णन किये गये।

■■■

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF - Delhi

अथ पंचमोऽध्याय:

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूर्व 4 अध्यायों में ग्रन्थकार ने अपना सिद्धान्त कहा, अब जो लोगों की शंकाएं या आक्षेप हैं, उनको रखकर समाधान करने के लिये पंचमाध्याय का आरम्भ करते हैं। प्रथम मंगलाचार=शुभकर्मानुष्ठान को व्यर्थ बताने वालों की शंका का समाधान यह है कि-

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनाच्छु तितश्चेति१

शिष्टाचार से, फल देखने से और श्रुति से मंगल शुभ आचरण करना चाहिए।।

पुरुष को शुभ कर्म का आचरण करना चाहिए, जिससे शिष्टों का आचरण होने से वह भी शिष्ट=भलेमानसों में गिना जाए, उसकी प्रतिष्ठा हो, दूसरे शुभ कर्मों का फल भी शुभ देखते हैं, तीसरे वेदों की श्रुतियां भी पुरुष को शुभ आचरण की आज्ञा देती हैं। जैसे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषछतथ्ंसमा: ।

एवं त्वयि नान्यथेतास्ति न कर्म लिप्यते नरे' । यजु: अध्याय 40 मन्त्र 2 इस मन्त्र में पुरुष को सन्ध्योपासनादि विहित शुभ कर्म का अनुष्ठान करने की आज्ञा दी गई है। इसी प्रकार अन्यत्र भी 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि तै०1।-2-3 जो अनिन्दित शुभ कर्म हैं उनका सेवन करना चाहिए, अशुभ या पापों का नहीं।

वैशेषिक दर्शन । । । । 2 में भी कहा है कि मंगलाचरणधर्मानुष्ठान से अभ्युदय और मोक्ष दोनों फल मिलते हैं। यथा 'यतोऽभ्युदयनि:श्रयससिद्धिसधर्म:'।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥ २॥

नहीं (=कर्म ही फलदायक नहीं हो सकता किन्तु) ईश्वर के अधिष्ठ (कर्म) में फल की सिद्धि हो सकती है (और) कर्म से फल की सिद्धि हो सकती है, उस (ईश्वराधिष्ठितत्व) के सिद्ध होने से।

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'च' शब्द की अनुवृत्ति है और इस प्रकार अन्वय है कि-

(न) कर्मैव केवलस्वतन्त्रं फलदायकं न। किन्तु (ईश्वराधिष्ठिते) कर्मणि सति (फलनिष्पत्तिः) भवति। (कर्मणा च) कर्महेतुना चफलनिष्पत्तिः (तत्सिद्धेः) ईश्वरोधिष्ठि तत्वस्यसिद्धः ॥

तात्पर्य यह है कि न तो केवल कर्म से फल मिल सकता है, क्योंकि जड़ कर्म में व्यवस्थापकता नहीं हो सकती, न ईश्वर ही बिना कर्म के फल देता है क्योंकि न्याय-विरुद्ध फलप्रद ईश्वर भी नहीं, और ईश्वर कर्मों का अधिष्ठाता है, यह श्रुत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है इसलिये ईश्वर के अधिष्ठाता होते हुए कर्म करने से व्यवस्थापूर्वक फल मिलता है। यह सिद्धान्त है जैसे राजा फल देता है और प्रजा कर्म करती है। ईश्वर के अधिष्ठाता होने की सिद्धि में हेतु देते हैं।

स्वोपकाराधिष्ठानं लोकवत् ॥ ३॥ (३३०)

अपनों के उपकार से अधिष्ठान होता है जैसे लोक में।

योगभाष्य में व्यासदेव जी ने लिखा है कि 'तस्यात्मानुग्रहाऽभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्' ईश्वर को अपने ऊपर अनुग्रह नहीं, किन्तु दयालु होने से प्राणियों पर दया आना ही कर्म फल देने का प्रयोजन है, जैसे लोक में दयालु राजा प्रजा के कर्मानुसार फल देने को अधिष्ठाता होता है। सूत्र 2।3 के अनुकूल ही न्याय दर्शन में भी कहा है। यथा- 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माऽफल्य दर्शनात् 4।1। 19 (370)' पुरुष जिन कर्मों के फलों को जब चाहता है तभी अपनी इच्छानुसार नहीं पाता, इससे अनुमान होता है कि पुरुषार्थ का फल पराधीन ईश्वराधीन है।

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥ ४॥ (३३१)

अन्यथा लौकिक राजा के समान (ईश्वर भी अपने ही प्रयोजनार्थ दया करे तो लौकिक) हो जाए।

यदि स्वार्थ के लिये ईश्वर भी कर्म फल देकर न्याय करे तो वह लौकिक राजाओं से अधिक कुछ भी न रहे।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पारिभाषिकोवा ॥५॥ (३३२)

अथवा संज्ञामात्र है।

अथवा अपने भले के लिये ईश्वर का न्याय=कर्मफल दान हो तो ऐसा ईश्वर निरपेक्ष पूर्ण काम नहीं हो सकता, किन्तु ईश्वर नाम धर के केवल एक नाम ही नाम हो। सर्वेश्वर सर्वाऽध्यक्ष नित्य पूर्ण काम स्वतन्त्र आदि न हो।

शंका यदि ईश्वर पूर्ण काम है, उसको अपने लिये कुछ न चाहिये तो वह अधिष्ठाता कैसे हो जाता है? उत्तर-

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥६॥ ३३३

नहीं, राग के बिना ही उसके अधिष्ठातृत्व की सिद्धि है, क्योंकि (जगत् की व्यवस्था के) प्रति नियत कारण होने से।

क्योंकि जगत की व्यवस्थापूर्वक कर्मों के फल देने का नियत कारण ईश्वर स्वाभाविक है इसलिये राग के बिना ही ईश्वर अधिष्ठाता है यह सिद्ध है। वेदान्तदर्शन 3 । 2 । 38 । में भी कहा है कि 'फलमतउपपत्तेः' उपपत्ति से सिद्ध है कि ईश्वर से फल मिलता है।

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥७॥ (३३४)

उस (दया रूप राग) के योग में भी नित्य मुक्त न होना नहीं।

एक 'न' इस सूत्र में है दूसरे 'न' शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से आती है। परमेश्वर में क्लेश रूप राग नहीं, किन्तु स्वाभाविक दया रूप राग होने पर नित्य मुक्त होने में हानि नहीं हो सकती और अधिष्ठाता अपने की भी सिद्धि है। कोई अभूतपूर्व दया परमेश्वर में नहीं उपजती, किन्तु वह दया स्वरूप ही है अतएव अपने स्वाभाविक दया रूप स्वरूप से ही जगत् में जीवों के कर्मों के फलों की व्यवस्था करता है।

यदि कहो कि प्रकृति के योग से ईश्वर अधिष्ठाता बन जाता है, उसके अतिरिक्त नहीं- तो उत्तर-

प्रधानशक्ति योगाच्चेत्संगापत्तिः ॥८॥ (३३५)

यदि प्रधान (प्रकृति) रूपिणी शक्ति के मेल से माने तो संगदोष है।

पुरुष को पूर्व असंग कह आये हैं, यदि वह प्रकृति के संबन्ध से अधिष्ठाता कहा जाए तो संगदोष आता है। अतः यह पक्ष ठीक नहीं।

यदि कहो कि चेतन सत्ता मात्र से अधिष्ठा तृत्व है। तो उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ॥९॥ (३३६)

यदि सत्तामात्र से (कहें) तो सारे (संसार को) ईश्वर मानना पड़े। परन्तु-

प्रामाणाभावान्न तक त्सिद्धिः ॥१०॥ (३३७)

(सबों के ईश्वर होने में) प्रमाण न होने से उस (सर्वेश्वर्य) की सिद्धि नहीं।

सबों के ईश्वर या अधिष्ठाता होने का प्रत्यक्ष प्रमाण कोई नहीं। इसलिये सबको ऐश्वर्य नहीं माना जा सकता। और-

सबन्धाऽभावान्नानुमानम् ॥११॥ (३३८)

सम्बन्ध (व्याप्ति) न होने से अनुमान भी नहीं बनता। जो 2 वस्तु हो वह 2 ईश्वर हो ऐसी व्याप्ति नहीं पाई जाती इससे अनुमान प्रमाण भी नहीं घटता। तथा-

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्थ ॥१२॥ (३३९)

श्रुति भी प्रधान के कार्यत्व की साधिका है।

श्रुति भी सत्तामात्र ईश्वर को सब संसार का उपादान कारण मान कर जगत को ईश्वर का कार्य होना नहीं कहती, किन्तु जगत् को प्रकृति का कार्य होना कहती है। जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजोह्येकोजुषमाणोंऽनुशेते
जहात्येनां भुक्ता भोगामजोऽन्यः ॥५॥

भाषार्थ- अब परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति इन तीनों का वर्णन करते हैं कि (एकाम्) एक (सरूपाः बह्वी प्रजाः, सृजमानाम) अपने सी, बहुत, प्रजा को, उत्पन्न करती हुई (लोहितशुक्लकृष्णाम्) रजः, सत्व, तमः वाली (अजाम्) अनादि प्रकृति को (एकः, अजः) एक अजन्मा जीवात्मा (जुषमाणः) सेवता हुआ (अनुशेते) लिपटा है। परन्तु (अन्यः, हि, अजः) दूसरा, अजन्मा परमात्मा (मुक्तभोगाम्) जीव से भोगी हुई (अनाम्) इस (प्रकृति) के (जहाति) नहीं लिपटता।

एक अजा प्रकृति, दो अज निज में से एक जीवात्मा है जो त्रिगुणात्मक जगत् के कारण प्रकृति से तलप्त होता है और दूसरा परमात्मा पृथक रहता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भाषार्थ- उक्त विषय में ऋग्वेद अष्टक 2 अध्याय 3 वर्ग 17 की ऋचा को कहते हैं कि- (द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (सयुजा) साथ मिले हुए (सखाया) मित्र से हैं और (समानम्) अपने समान (वृक्षम्) वृक्ष के (परिषस्वजाते) सब और से संग हैं। (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक तो (पिप्पलम) फल के (स्वादु) स्वाद मानकर (अत्ति) खाता है और (अन्यः) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) साक्षी मात्र है।

प्रकृति रूप एक वृक्ष है। इसे वृक्ष की उपमा इस कारण दी है कि वृक्ष शब्द छेदन अर्थ वाले 'व्रश्चू) धातु से बना है। प्रकृति विकृत होती और छिन्न भिन्न होती रहती है। इस वृक्ष में दो पक्षी रहते हैं, वे परमात्मा और जीवात्मा हैं, वृक्ष जड़ असमर्थ होता है और पक्षी चेतन होते हैं। दोनों आत्माओं को पक्षियों की उपमा दी गई हैं। वृक्ष को 'समान' इस अंश में कहा है कि वह भी अनादि है। इन दोनों को सयुज इसलिये कहा है कि व्याप्यव्यापक भाव से एक दूसरे से संयुक्त हैं। मित्र इसलिये कहा है कि मित्रों के समान चेतनत्वादि कई बातों में एक से हैं। भेद बड़ा भारी यह है कि एक वृक्ष के फल खाता अर्थात् कर्म और उन के फल भोगता है और दूसरा परमात्मा क्लेश कर्म विपाकाशयों से सर्वथा पृथक है।

यदि कहो कि- 'तदैक्षत बहुस्याम्' इत्यादि श्रुतियों में तो ब्रह्म को ही उपादान माना है तो उत्तर यह है कि जैसे नदी का किनारा कट कर पानी में गिरने को होता है तब जैसे कहते हैं कि 'कूलं पिपतिषति' कूल गिरना चाहता है। इसी प्रकार जड़ प्रकृति से भी जब जगत उत्पन्न होने को होता है तब कहा जा सकता है कि जड़ प्रकृति बहुरूप जगत होना चाहती है। इस प्रकार जड़ प्रकृति में ईक्षण का व्यवहार असंगत नहीं होता। अन्यथा ब्रह्म को बहुरूप होना चाहता मानें तो 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतियों से विरोध आएगा। यही बात विज्ञानभिक्षु जी अपने सांख्यभाष्य में लिखते हैं यथा-'प्रधान एव फूलं पिपतिषतीतिवत् गौ रणी इत्यादि। यथा-

नाविद्याशक्तियोगी निःसङ्गस्य ॥१३॥ (३४०)

निःसंग को अविद्याशक्ति का योग भी नहीं हो सकता। और-

तद्योगे तत्सिद्धावन्योन्याश्रयत्वम् ॥१४॥ (३४१)

अविद्या के योग मानने पर उस (अविद्या) की सिद्धि में अन्योन्याश्रय दोष होगा।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अविद्या के अवस्तु होने का वर्णन प्रथम सूत्र (20) में कर चुके हैं, इतने पर भी अविद्या का योग मानने और अविद्या के सिद्ध (वस्तु) होने में अन्योन्याश्रय दोष होगा अर्थात् अविद्या ईश्वर के आश्रय और ईश्वर अविद्या के आश्रय होकर दोनों असिद्ध होंगे। इसलिये अविद्या सम्बन्ध से ईश्वर में अधिष्ठातापन मानने वाले अद्वैतियों का मत ठीक नहीं। तथा-

न बीजांकुरवत्सादिसंसारश्रुतेः ॥ १५॥ (३४२)

संसार का आदि सुना जाता है अतः बीज अंकुर के तुल्य भी नहीं कह सकते (कि दोनों अविद्या और ईश्वर का अनादि योग है)।

जो अद्वैतवादी अविद्या और ईश्वर को अनादि मान कर कहें कि अनादि पदार्थों में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि संसार सादि है, अनादि नहीं, फिर अनादि अविद्या और ईश्वर का योग मान्य नहीं हो सकता। और प्रवाह से अनादि हम तो मान सकते हैं जो वैदिक हैं, क्योंकि हम अविद्या के बिना ही ईश्वर को स्वाभाविक दयालु और न्यायकारी मानते हुये अधिष्ठाता मानते हैं, परन्तु अद्वैतवादियों या अविद्यावादियों या मायावादियों के मत में अविद्या अनादि सांत हैं। जब सान्त हैं तब अविद्या का अन्त होने पर ईश्वर की साथिन अविद्या के अभाव में संसार का भी भाव हो जाना चाहिए फिर प्रवाह रूप अनादिता कहां रही? और-

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मवाधप्रसंगः ॥ १६॥ (३४३)

विद्या से अन्य पदार्थ को अविद्या मानो तो ब्रह्म का बोध प्राप्त होगा।

यदि विद्या से भिन्न अविद्या मानो तो विद्या से भिन्न ब्रह्म भी अविद्या पदार्थ हुआ। इस दशा में ब्रह्म को अविद्यात्वप्राप्तिरूप बाधा होगी। अतएव अविद्या को सिद्ध या वस्तु मानना ठीक नहीं। तथा-

अबाधे नैष्फल्यम् ॥ १७॥ (३४४)

यदि विद्या से (ब्रह्म का) बोध न मानें तो निष्फलता होगी यदि कहें कि विद्या से अन्य किसी की बांधना (निवृत्ति) नहीं होती तो विद्या से अविद्या की भी निवृत्ति नहीं होगी, उस दशा में विद्या निष्फल है। और-

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥ १८। (३४५)

विद्या से (अविद्या का) बाध्य होना माना तो जगत् की भी यही दशा हो ।

यदि विद्या से बाध्य होना मानो तो जगत भी बाध्य हो, और विद्यमान् पुरुष ने जब विद्याबल से जगत् की बाधा (निवृत्ति) कर दी, तो अन्यों को भी जगत न दिखना चाहिये क्योंकि निवृत्त हो गया। जगत् सब को दिखता है इससे निवृत्त हुआ नहीं मान सके।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि कहो कि जगत भी अविद्या रूप ही है तो उत्तर-

तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥१९॥ (३४६)

अविद्यारूप होने पर सादि होना मानिएगा।

यदि जगत् भी अविद्या रूप है, तो जगत् के समान अविद्या भी अनादि न रह कर सादि हो जायगी जो कि अद्वैतमत में अनादि है। इस प्रकार अपना मत स्वयं खण्डित होगा।

यदि कहो कि धर्म-अधर्म अदृष्ट सिद्ध हो तो उसके फल देने वाला ईश्वर अधिष्ठाता सिद्ध हो, परन्तु जब धर्माऽधर्म अदृष्ट ही सिद्ध नहीं हम नहीं मानते, तब ईश्वर का अधिष्ठातृत्व कहां रहा? तो उत्तर-

न धार्मऽपलापःप्रकृतिकायेवैचित्र्यात् ॥२०॥ (३४७)

प्रकृति के कार्यों की विचित्रता से धर्म का न मानना नहीं बनता।

कोई इस जगत में सुखी, दुःखी, कोई दीन दरिद्र, कोई सम्पन्न देखा जाता है, इससे यह नहीं कह सकते कि धर्म-अधर्म आदि कर्म कुछ नहीं। इसलिये उनका व्यवस्थापक ईश्वर भी मानना होगा।

यदि कहो कि धर्मऽधर्मादि से सुखी-दुःखी होने की विचित्रता नहीं किन्तु स्वभाव से या अकस्मात् यदृच्छा से है? तो उत्तर-

श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः ॥२१॥ (३४८)

श्रुति और पहचान आदि से उस (धर्मादि के फल सुखादि) को सिद्धि है।

'पुण्यों वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन' वृहदारण्यक उपनिषद् अ० 5 ब्रा0 2। 13 इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि पुण्य का फल उत्तम और पाप का निकृष्ठ होता है, तथा चिह्न भी पाये जाते हैं कि अच्छा करने का अच्छा फल और बुरे का बुरा इत्यादि प्रमाणों से धर्माधर्म आदि को मानना ही पड़ता हैं, अकस्मात् सुख, दुःखादि विचित्रता नहीं। यदि कहो कि प्रत्यक्ष के बिना हम कुछ नहीं मानते तो उत्तर-

न, नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥२२॥ (३४९)

नहीं, अन्य प्रमाणों को अवकाश होने से नियम है।

यह कहना कि अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा ही फल होता है। यह नियम नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष में अच्छे कर्म करने वाले कभी-कभी दुःख पाते देखे जाते हैं, तथा कभी-कभी कुकर्मी भी सुख पाते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। इसका उत्तर यह है कि नहीं, प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य अनुमानादि प्रमाणों का अवकाश होने

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से नियम अवश्य है कि पुण्य का फल इष्ट और पाप का अनिष्ट होता है। जहां-जहां पुण्य बातों को दुःख और पापियों को सुख देखते हैं वहां-वहां उनके पूर्व जन्मार्जित पुण्य पाप ही अनुमान सिद्ध होकर सुख दुःखादि के भेद की व्यवस्था होने में हेतुता रखते हैं।

उभयत्राऽप्येवम् ॥२३॥ (३५०)

दोनों में ऐसा ही है।

जो कुछ धर्म विषय में 'न धर्मापलापः०' इत्यादि कहा गया है वहीं दोनों (धर्म-अधर्म) में समझना चाहिये।

अर्थात्सिद्धिश्चेत् समानमुभयोंः ॥२४॥ (३५१)

यदि अर्थोपत्ति से सिद्धि है तो दोनों में समान है।

धर्म विषय में जो हेतु सूत्र 20 से 22 तक कहे उनकी अर्थोपत्ति से दोनों (धर्म-अधर्म) में समानता है।

यदि कहो कि धर्माऽधर्मादि के मानने और तदनुसार पाप पुण्य से जन्मान्तर में दुःख-सुख मिलना मानने से पुरुष निर्गुण कहां रहा? तो उत्तर-

अन्तःकरणधर्मत्वं धर्भादीनाम् ॥२५॥ (३५२)

धर्मादि को अन्तःकरण धर्मता है।

धर्माऽधर्मादि हैं सही, परन्तु पुरुष के नहीं किन्तु पुरुष के साथी अन्तःकरण के धर्म हैं पुरुष में नहीं।

क्यों जी! यदि धर्मादि अन्तःकरण के धर्म हैं, पुरुष के नहीं तो यह कहना चाहिये कि पुरुष में वे (धर्मादि) आरोपित हैं, जो विवेक ज्ञान होने पर उन धर्मादि का अत्यन्त बोध होगा, क्योंकि आरोप तो विवेक ज्ञान के उदय से पूर्व ही है, विवेक ज्ञान होने पर आरोप नहीं रहता तो फिर सत्कार्यवाद खण्डित हो गया, कि सत् ही कार्य होता है असत् नहीं। इसका उत्तर-

गुणादीनां च नात्यन्तबांधः ॥२६॥ (३५३)

और धर्मादि का अत्यन्त बोध नहीं हो सकता।

जैसे लोहे में अपनी गरमी नहीं, किन्तु अग्नि के संयोग से अग्नि की गरमी लोहे में जब भर जाती है तब कहा जाता है कि लोहा गरम है और जब गरमी निकल जाती है तब कहते हैं कि लोहा ठण्डा है। पर वास्तव में अपने स्वरूप में लोहा न ठण्डा है न गरम है। ऐसे ही पुरुष के स्वरूप में धर्म-अधर्मादि नहीं होते, किन्तु अन्तःकरण के धर्मादि पुरुष में आरोप से हो जाते हैं, इतने से

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अविवेक निवृत्त होने पर धर्मादि का अत्यन्त बोध नहीं हो जाता किन्तु अन्य अन्तःकरणों में उनका उद्भाव रहता है।

इसमें कोई लोग कहेंगे कि न्यायवैशेषिकादि के मत में तो सुख दुःखादि आत्मा (पुरुष) के धर्म कहे गये हैं, यहां अन्तःकरण के धर्म बताकर विरोध आता है उसका परिहार क्यों है? उत्तर=न्यायादि शास्त्रों में भी इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि को आत्मा के स्वरूप में नहीं माना, किन्तु आत्मा का लिंग कहा है अर्थात् जहां आत्मा है, वहां वह (उस देह में) इच्छा द्वेषादि से पहचाना जाता है जहां इच्छा द्वेषादि नहीं पाये जाते, वहां आत्मा निकल गया या नहीं है, ऐसा समझा जाता है जैसे जड़ भित्ति आदि में।

यदि कहो कि उक्त सूत्रानुसार अपने धर्मादि का ज्ञान हो भी जाए परन्तु पराये का कैसे हो जाता है? उत्तर-

पंचाऽवयवयोगात्सुखसंवित्तिः ॥ २७॥ (३५४)

पांच अवयवों के योग से सुख का बोध हो जाता है।

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन 5 अवयवों से सुख और उपलक्षण से दुःखादि की उपलब्धि हो जाती है। 1 सुख है 2 अर्थों में क्रिया कर रहा है इस हेतु से। 3 जो 2 अर्थ क्रिया करता है, वह सत् होता है जैसे चेतन। 4 रोम हर्षादि रूप अर्थ क्रियाओं को करने वाला सुख है। 5 इससे सुख सत् है। यह पांच अवयव के न्याय का प्रयोग हुआ। इसी प्रकार दुःखादि की पहचान भी हो जाती है।

क्यों जी! अनुमान की सिद्धि व्याप्ति की तो सिद्धि से होती है, वह व्याप्ति सुखादि में किस प्रकार है? उत्तर-

न सकृद्ग्रहणात्संबन्धसिद्धिः ॥ २८॥ (३५५)

बारम्बार ग्रहण से सम्बन्ध की सिद्धि होती है।

एक बार नहीं किन्तु अनेक बार सदा ही जिसका जिस प्रकार ग्रहण होना पाया जाता है, उससे सम्बन्ध (व्याप्ति) की सिद्धि होती है। अर्थात् साध्य और साधन में बारम्बार साहचर्य देखने से व्याप्ति सिद्ध होती है। जैसे अग्नि में बारम्बार या सदा ही ताप या दाह देखा जाता है जिससे अग्नि जहां-जहां होगा, वहां-वहां दाह भी होगा यह व्याप्ति पायी जायेगी।

अब व्याप्ति का स्वरूप कथन करते हैं-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्यवा व्याप्तिः ॥ २९॥

दोनों (साध्य और साधन) या किसी एक के नियत धर्म का साथ-साथ रहना=व्याप्ति कहलाती है।

साध्य और साधन में जो धर्म नियत (सदा एक से अव्यभिक्षरित) साथ-साथ पाये जाएं या एक (साधन) में ही नियत रूप से पाये जाएं इसका नाम व्याप्ति है अर्थात् अटल=अव्य=भिचारी सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

समव्याप्ति दिखाने को उभयो?=दोनों शब्द दिया है और विषम व्याप्ति दिखाने को 'एकतर' शब्द है। कभी 2 साधन मात्र का नियत धर्म सहचार होता है, कभी दोनों साध्य साधनों का।

यदि कहो कि नियत धर्म के साथ'=को व्याप्ति नहीं कहते किन्तु व्याप्ति अन्य तत्व हैं, तो उत्तर-

न तत्वान्तरं वस्तुकल्पनाऽप्रसक्तेः ॥ ३०॥ (३५७)

अन्य वस्तु की कल्पना का प्रसंग न होने से (व्याप्ति) कोई अन्य तत्व (वस्तु) नहीं है।

अर्थात् व्याप्ति जो एक धर्म है, उसके अतिरिक्त किसी एक अन्य नये धर्मो की कल्पना संगत नहीं।

यदि कहो कि किस प्रकार के 'नियतधर्मसाहित्य' की विवक्षा है? तो उत्तर-

निजशक्तयुद्रवमित्याचार्य्याः ॥ ३१॥ (३५८)

निज्र शक्ति से उत्पन्न होने वाला (नियत धर्म साहित्य विवक्षित है) यह कई आचार्यो का मत है।

कई सांख्य के आचार्य ऐसा मानते हैं कि निज (स्वाभाविक) शक्ति से जो नियत धर्म साथ-साथ रहे उस नियतधर्म साहित्य को यहां व्याप्ति कहा है।

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥ ३२॥ (३५९)

पंचशिखाचार्य कहते हैं कि आधेयशक्ति का योग (नियतधर्मसाहित्य विवक्षित है)।

आधान=संकेत की विषयीभूत शक्ति को आधेयशक्ति कहते हैं अर्थात् यह व्यापक है, यह व्याप्य है, इस संकेत की विषयभूत शक्ति का योग आधेय शक्ति योग इसी से तात्पर्य है, ऐसा पंचशिख का मत है।

यदि कहो कि स्वरूप शक्ति ही व्याप्ति हो जाओ, आधेय शक्ति की क्या आवश्यकता है? तो उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥ ३३॥ (३६०)

पुनरूक्ति के प्रसंग से स्वरूपशक्ति भी व्याप्ति नहीं कहा सकती।

यदि वस्तु के स्वरूपभूत शक्ति को ही व्याप्ति कहें तो जैसे घट को कलश कहना पुनरूक्तिमात्र है, लक्षण कुछ नहीं, इसी प्रकार स्वरूपशक्ति को व्याप्ति कहना भी पुनरूक्ति है, विशेष नहीं।

यदि कहो कि इस में पुनरूक्ति क्या है? तो उत्तर-

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ॥ ३४॥ (३६१)

विशेषण की व्यर्थता के प्रसंग से (पुनरूक्ति मात्र है)।

जैसे स्वरूप शक्ति से देवदत्त को 'शक्त' विशेषण देना व्यर्थ है, या घट का विशेषण 'कलश' कहना व्यर्थ हे, क्योंकि जो अर्थ घट का है वही कलश का , या जो अर्थ केवल देवदत्त शब्द का है वही स्वरूप शक्ति वाला अर्थ 'शक्त' विशेषण लगाने पर है, बस जैसे घट शब्द के साथ कलश विशेषण कुछ भी नहीं, पुनरूक्त या व्यर्थ है, वैसे ही देवदत्त के साथ शक्त शब्द व्यर्थ है, तद्वत् स्वरूप शक्ति का प्रयाय मात्र व्याप्ति शब्द भी पुनरूक्त या व्यर्थ ही है। तथा-

पल्लवादिष्वनुपपत्तेः ॥ ३५॥ (३६२)

पल्लवादिकों में उपपत्ति न होने से (स्वरूप शक्ति को व्याप्ति कहना ठीक नहीं)।

यदि स्वरूप शक्ति को व्याप्ति कहे तो वृक्ष पर लगे हुए पत्ते जैसे वृक्ष का अनुमान कराते हैं, वैसे ही उसी स्वरूप से वर्त्तमान वृक्ष से टुटे हुए पत्ते भी वृक्ष का अनुमान कराए कि 'यह वृक्ष है पल्लव वाला होने ने'। परन्तु टूटे हुए पत्ते वृक्ष के सिद्ध करने में अनुमापक नहीं होते, इत्यादि से कहना पड़ेगा कि स्वरूप शक्ति को व्याप्ति मानना ठीक नहीं। किन्तु-

आधेयशक्तिसद्धौ निजशक्तियोगः
सामानन्यायात् ॥ २६॥ (३६३)

आधेयशक्ति को सिद्धि में निज शक्ति का योग भी है समानन्याय से।

प्रञ्चशिखाचार्य का यह कथन कि आधेयशक्ति का योग=व्याप्ति है, सांख्याचार्यो के मत से कि निजशक्ति से उत्पन्न=व्याप्ति है, अविरूद्ध है। अर्थात् दोनों का तात्पर्य एक ही है क्योंकि दोनों में समान न्याय है। अर्थात् निज शक्ति योग या आधेयशक्ति का सिद्धि में आ जाता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जिस प्रकार अनुमान प्रमाण की सिद्धयथ साध्य साधन के सम्बन्ध=व्याप्ति का वर्णन किया, इसी प्रकार आगे शब्द प्रमाण की सिद्धि के निमित्त शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निरूपण करते हैं। यथा-

वाच्यवाचकभावः संबन्धः शब्दार्थयोः ॥ ३७॥ (३६४)

शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है।

शब्द वाचक और अर्थ वाच्य कहलाता है।

वाक्यार्थ के बोध में वाच्यवाचक भाव कारण होता है, जिसे वृत्ति भी कहते हैं, अतः आगे उसके हेतु वर्णन किये जाते है-

त्रिभिः संबन्धसिद्धिः ॥ ३८॥ (३६५)

तीन से सम्बन्ध सिद्ध होता है।

1-आप्त पुरुषों का उपदेश 2-वृद्धों का व्यवहार और 3-प्रसिद्ध पद का समीप होना, इन तीनों से शब्द अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध होता है। जैसे कोयल पिक शब्द का वाच्य है इत्यादि वाक्यों में पिक शब्द का कोयल व्यक्ति के साथ वाच्य वाचक भाव संबंध है इसी के ज्ञान को वृत्ति ज्ञान भी कहते हैं। यह आप्तों के उपदेश से होता है। आप्त लोग कहते आये हैं कि कोयल व्यक्ति पिक शब्द का अर्थ है। 2-वृद्धों के व्यवहार से वाच्य वाचक भाव संबन्ध जाना जाता है। जैसे गौ ले आओ। ऐसा कहने से एक बालक गौ व्यक्ति को समझ जाता है और ले आता है क्योंकि देखता है कि वृद्ध लोग गौ शब्द से गौ व्यक्ति का ग्रहण करते हैं। 3- प्रसिद्ध शब्दों के साथ से वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध समझ पड़ता है, जैसे 'आम के वृक्ष पर पिक बोल रहा है।' इस वाक्य में कोई पुरुष जो आम के वृक्ष को प्रसिद्धि से जानता है बस उसके साहचर्य से जान लेता है कि पिक शब्द का वाच्य यही व्यक्ति कोयल है, जो बोल रही है।

यदि कहो कि यह तीन प्रकार से वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध का ज्ञान केवल कार्य वाचक वाक्यों में होता है, सिद्धार्थो में तो नहीं? तो उत्तर-

न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात् ॥ ३९॥ (३६६)

कार्य में नियम नहीं क्योंकि दोनों प्रकार से देखा जाता है।

यह नियम नहीं कि कार्य बाधक वाक्यों में ही उक्त तीन प्रकार से वाक्यार्थ ज्ञान होता हो, किन्तु कार्य बोधक वाक्यों में (दोनों में) वाक्यार्थ बोध होता देखते हैं। जिस प्रकार ऊपर कार्य बोधक वाक्यों में वृत्ति ज्ञान के उदाहरण दिये, इसी प्रकार सिद्धार्थ बोधक वाक्यों के अर्थ का ज्ञान भी होता देखते हैं। जैसे 'तेरे पुत्र

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हुआ है' इत्यादि सिद्धार्थ बाधक वाक्यों का अर्थ भी आप्तोपदेश आदि से जाना जाता है।

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थ प्रतीतिः ॥४०॥ (३६७)

लोक में बोध वाले पुरुष को वेदार्थ की प्रतीति होती है।

लौकिक शब्दार्थ जानने वाले पुरुष को ही वैदिक शब्दार्थ बोध या वाक्यार्थ बोध होता है। इससे भी जाना जाता है कि उक्त आप्तोपदेशादि 3 प्रकारों से वाक्यार्थ बोध हुआ है जिसमें वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध ज्ञान आवश्यक है। शंका

नात्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्यतदर्थस्यातीन्द्रियत्वात् ॥४१॥ (३६८)

वेद अपौरुषेय होने ओर वेदार्थ के अतीन्द्रिय होने से (उक्त) तीनों (अप्तोपदेशादि) कारणों से (वेदोक्तशब्दार्थबोध) नहीं हो सकता।

लौकिक शब्दों का अर्थ तो आप्तोपदेशादि तीन कारणों से हो सकता है, परन्तु वेद तो अपौरुषेय हैं=वे किसी पुरुष ऋषि, मुनि आदि के निज रचित नहीं, उनका अर्थ भी इन्द्रियग्राह्य नहीं, फिर वेद के शब्दों का अर्थ आप्तोपदेशादि द्वारा कैसे जाना गया या जाना जा सकता है?

उत्तर-वेदार्थ की अतीन्द्रियता को लेकर जो पूर्वपक्ष हुआ उसका उत्तर देने के लिये अगला सूत्र कहते हैं-

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्व वैशिष्टयात् ॥४१॥ (३६९)

नहीं, यज्ञादि को विशेष्ठता से स्वरूप से ही धर्मत्व है।

वेदार्थ के अतीन्द्रिय होने से जो प्रसिद्ध पद सामीप्य सिद्ध सम्बन्ध ज्ञान में दूषण दिया गया। उसका उत्तर यह है कि उक्त दोष इसलिये नहीं आ सकता कि यज्ञादि के स्वर्गादि फल जिनको अतीन्द्रिय मानकर दोष दिया गया है, साक्षात् अर्थात् लोक में ही इन्द्रियग्राह्य विशिष्ट देखे जाते है, यह नियम नहीं कि यज्ञादि का फल साक्षात् इस लोक में इन्द्रियग्राह्य न हो, किन्तु लोक में भी वह फल देख लिया जाता है। इससे अतीन्द्रिय नहीं कह सकते है। आगे अपौरुषेय मानकर दिये हुए दोष का उत्तर देते हैं-

निजशक्तिर्व्युत्पत्त्यो व्यवच्छिद्यते ॥४३॥ (३७०)

निज शक्ति व्युत्पत्ति से विस्पष्ट की जाती है।

वेद पौरुषेय नहीं, अपौरुषेय हैं, यह ठीक है, परन्तु अपौरुषेय वेदवाक्यों के अर्थो को जानने के लिये भी आप्तोपदेश द्वारा सम्बन्ध सिद्धि असम्भव नहीं क्योंकि वेदोक्त अपौरुषेय वाक्यों का शब्दार्थ सम्बन्ध ज्ञान भी तो निज शक्ति जन्य

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

है अर्थात् शब्दों और अर्थों की स्वाभाविक शक्ति से सूत्र 31 के अनुसार उत्पन्न हो जाता है, व्युत्पन्न ऋषि-महर्षियों की व्युत्पत्ति (बोध) से व्याख्यानपूर्वक ज्ञात हो जाता है। इसलिये वेदों के शब्दार्थ सम्बन्धबोध में उनकी अपौरुषेयता बाधक नहीं हो सकती।

यदि कहो कि कोई अर्थ तो योग्य=इन्द्रियों से ग्रहण योग्य होते हैं, उनका बोध तो हो सकता है, परन्तु वैदिक शब्दों के अयोग्य=इन्द्रियों द्वारा न ग्रहण कर सकने योग्य आत्मा, परमात्मा, मुक्ति आदि अतीन्द्रिय अर्थों की प्रतीति कैसे हो सकती है? उत्तर-

योग्याऽयोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात्तत्सिद्धिः ॥४४॥ (३७१)

योग्यों और अयोग्यों में प्रतीति जनक होने से उस (शब्दार्थ सम्बन्ध की सिद्धि हो जाती है।

जिस प्रकार योग्य=इन्द्रियग्राह्य अर्थों की प्रतीति को शब्दार्थ सम्बन्ध ज्ञान उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अयोग्य=अतीन्द्रियों की भी अनुमानादि से प्रतीति कराता है। इसी लिये व्यप्ति की सिद्धि हो जाती है।

तो क्या वेद स्वाभाविक नित्य है? उत्तर-

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥४५॥ (३७२)

वेदों का कार्यत्व सुनने से वे नित्य नहीं।

'तस्मात्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे' ।।यजु: 31।9 इत्यादि श्रुतियों से सुनते हैं कि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। अतएव जैसे ईश्वरकृत सृष्टि अनादि सिद्ध, नित्य नहीं, इसी प्रकार वेद भी नित्य नहीं।

प्र०- यदि नित्य नहीं तो पुरुषकृत होंगे? उत्तर-

न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषास्याऽभावात् ॥४६॥ (३७३)

उन (वेदों) के कर्त्ता पुरुष के न होने से (उनको) पौरुषेयत्व नहीं बनता।

जिस प्रकार अन्य भारतादि के कर्त्ता पुरुष प्रसिद्ध हैं, इस प्रकार वेद भी मनुष्यप्रणीत होते तो वे भी उस पुरुष विशेष के नाम से प्रसिद्ध होते। ऐसा नहीं है, इस से वेद पौरुषेय नहीं, अपौरुषेय है।

यदि कहो कि जिस प्रकार पुराने धर्म-मन्दिर नष्ट हो गये इसी प्रकार वेद कर्त्ता पुरुष का पता न लगने से भी वेदों को अपौरुषेय क्यों मान लिया जाए? यह क्यों न माना जाए कि वेद के कर्त्ता नष्ट हो गये, पता नहीं लगता? उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

मुक्ताऽमुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥ ४७॥ (३७४)

मुक्त और अमुक्त=बद्ध के आयोग्य होने से (पुरुषेयता नहीं बनती)।

वेदों की रचना न तो मुक्त पुरुष कर सकते, न बद्ध बस फिर कौन उनका कर्त्ता हो सकता है? अत: वेद अपौरुषेय ही हैं। मुक्त जीव तो मुक्तावस्था में ब्रह्मानन्द भोगता है, वह कोई काम नहीं करता, बद्ध जीवों को उतना ज्ञान नहीं कि वेदों को रच सकें, इस प्रकार बद्ध मुक्त दोनों प्रकार के जीव वेद रचना के योग्य नहीं, तब वेद को अपौरूषेय ही मान सकते हैं।

यदि कहो कि जब वेद पुरुष ने नहीं रचे, तब उनको नित्य क्यों न माना जाए? उत्तर-

नाऽपौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत् ॥ ४८॥ (३७५)

अपौरुषेय होने से नित्यता नहीं हो जाती, जैसे अंकुरादि की।

जैसे अंकुर की उत्पत्ति मनुष्य नहीं करता अत: अंकुर पौरुषेय नहीं, अपौरुषेय है, वैसे ही वेद की उत्पत्ति भी पुरुष ने नहीं की, वह भी अपौरुषेय है, परन्तु जैसे अंकुर अपौरुषेय होने पर भी नित्य नहीं उत्पत्तिमान् है, वैसे ही वेद भी अपौरुषेय होने से नित्य नहीं सिद्ध हो जाते, किन्तु उत्पत्तिमान् हैं और उनकी उत्पत्ति भी अंकुरादि के समान ईश्वरकृत हैं, मनुष्यकृत नहीं।

यदि कहो कि अंकुरादि भी मनुष्य के बोए होने से मनुष्यकृत ही माने जा सकते हैं? उत्तर-

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधातिप्रसक्तिः ॥ ४९॥ (३७६)

यदि उन (अंकुरादि) को भी उन (मनुष्यों) का रचा मानें तो दृष्ट बाधादि दोषों की प्राप्ति होगी।

यह देखने में नहीं आता कि अंकुर और पुष्पादि की रचना को पुरुष=मनुष्य रचता हो, अत: दृष्टबाधादि दोषों से यह पक्ष नहीं बनता।

प्र०-इस बात की क्या पहचान है कि यह कार्य मनुष्यकृत है और यह ईश्वर कृत? उत्तर-

यस्मिन्नदृष्टेऽपिकृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम् ॥ ५०॥ (३७७)

जिस के न दिख पड़ने पर भी कृतबुद्धि उपजे वह मनुष्य कृत है।

जिस कार्य को देख कर उस के कर्त्ता के न दीख पड़ने पर भी ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो कि मनुष्य कृत कार्य जैसा है, उसे मनुष्य कृत समझो। हम एक संदूक को देखते हैं कि वह मनुष्य कृत है, दूसरा संदूक ऐसा है कि उसके बनाने वाले

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

को हमने नहीं देखा और अन्य किसी ने भी चाहे न देखा हो, तब भी संदूक की बनावट से यह बोध होता है कि वह मनुष्यकृत है। परन्तु एक पुष्प को देखकर यह किसी की समझ में नहीं बैठता कि यह मनुष्यकृत है। इसी प्रकार अंकुरादि को जानो। वेद की अद्भुत रचना को देखकर भी विशेष कर सृष्टि के आरम्भकाल में जबकि मनुष्यों को कोई अनुभव ऐसा भारी हो नहीं सकता था, जैसा कि वेदों की रचना में विज्ञान भरा कौशल पाया जाता है, बस उनको देखकर बद्ध या मुक्त दोनों प्रकार के जीवों में से किसी में भी उनके बनाने की योग्यता न पाई जाने से कृत बुद्धि नहीं उपजती। अतएव वे पौरूष नहीं।

प्र०- तो क्या वेदों के प्रमाणय में प्रमाणान्तर की भी अपेक्षा नहीं? उत्तर-

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाणयम् ॥५१॥ (३७८)

अपनी स्वाभाविक निज शक्ति द्वारा उत्पन्न होने से स्वतः प्रमाणता है।

यदि वेदों के शब्दार्थ सम्बन्ध ग्रन्थान्तर से लिये होते तो वेद परतः प्रमाण माने जाते परन्तु ऐसा नहीं है, वे अपने स्वाभाविक सामर्थ्य से प्रत्येक सृष्टि के समय प्रकट होते हैं, ईश्वर स्वयं उनको सबसे पहले ऋषियों के हृदय में प्रकट करती है, इसलिये वे परतः प्रमाण नहीं स्वयं सिद्ध प्रमाण या स्वतः प्रमाण हैं।

अब असत्ख्याति आदि मतों का खण्डन करके आगे 56वें सूत्र में सांख्याचार्य अपना मत कहेंगे।

नाऽसतः ख्यानं नश्रृङ्गवत् ॥५२॥ (३७९)

असत् की ख्याति नृश्रृंग के समान हो नहीं सकती।

जैसे मनुष्य के सींग कभी प्रतीत नहीं होते, वैसे ही कोई असत् (न हुआ) पदार्थ प्रतीत नहीं हो सकता। इसलिये जो लोग रस्सी में भ्रान्ति से सर्प को प्रतीति और सीपी में चांदी की प्रतीति को 'असत्ख्याति' कहते हैं, वह ठीक नहीं। तथा-

न सतोबाधदर्शनात् ॥५३॥ (३८०)

सत्ख्याति भी नहीं हो सकती, बाध के देखने से।

यथार्थ ज्ञान न होने पर जब भ्रान्ति ज्ञान हट जाता है तो रस्सी में सर्प और सीपी में चांदी का बोध हो जाता है, इस कारण यह भी नहीं कह सकते कि सत्ख्याति ही है और विद्यमान की ही प्रतीति होती है। और-

नाऽनिर्वचनीयस्य तदऽभावत् ॥५४॥ (३८१)

अनिर्वचनीय के अभाव से उसकी भी (ख्याति) नहीं बनती।

यदि कहो कि सत्ख्याति, असत्ख्याति दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय की

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

-ख्याति मान लो, तो उत्तर यह है कि अनिर्वचनीय है ही नहीं, इससे उस की ख्याति भी माननीय नहीं। अथ च-

नाऽन्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ॥५५॥ (३८२)

'अन्यथाख्याति' भी नहीं हो सकती क्योंकि अपने वचन का व्याघात् दोष है।

क्योंकि सत्-असत् दोनों के विपरीत को 'अन्यथाख्याति' कहना होगा, इस कथन में सत्-असत् के विपरीत को अनिर्वचनीय कह चुके हो, बस तुम्हारे ही मत से तुम्हारा वचन कटता है।

इसलिये अब सांख्याचार्य निज मत कहते हैं-

सद्ऽसत्ख्यातिर्वाधाऽबाधात् ॥५६॥ (३८३)

बाध और अबाध से सदऽसत्ख्याति (माननीय) है।

अर्थात् रस्सी में सर्प नहीं, परन्तु देशान्तरस्थ सर्प का संस्कार भ्रान्त पुरुष के मन में है, तभी उसको रस्सी में सर्प की ख्याति होती है। इस लिये अन्य देश में विद्यमान पदार्थ के इतर देश में अविद्यमान होने पर भी अन्धकारादि अविवेक के कारणों से भ्रम, विपर्यय, मिथ्याज्ञान, अख्याति या सदऽसत्ख्याति इत्यादि अनेक नामों वाली ख्याति उत्पन्न होती है।

आगे 'शब्द' और उसके भेदों की परीक्षा चलाते हैं-

प्रतीत्यऽप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्द ॥५७॥ (३८४)

प्रतीति और अप्रतीतियों से 'स्फोटात्मक' शब्द सिद्ध नहीं होता।

स्फोटरूप शब्द के मानने वाले कहते हैं कि जिस प्रकार हाथ-पांव आदि अवयवों से भिन्न अवयवों वाला (अवयवी) अन्य है, इसी प्रकार ग, औ इन वर्णों से भिन्न गौ शब्द पृथक् वस्तु है जो 'स्फोटात्मक' है। इस पर यह सूत्र कहता है कि गकोरादि वर्णों की प्रतीति और उससे भिन्न अन्य स्फोट की अप्रतीति से स्फोटात्मक शब्द कोई नहीं।

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ॥५८॥ (३८५)

कार्यत्व की प्रतीति से शब्द को नित्यता नहीं।

शब्द करने से उत्पन्न होता है, इस लिये कार्य है, कार्य होने से नित्य नहीं हो सकता ॥58॥ शब्द को नित्य मानने वाला कहता है कि-

पूर्वसिद्धत्त्वस्योऽभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य ॥५९॥ (३८६)

पहले से सिद्ध पदार्थ की अभिव्यक्ति मात्र है, जैसे दीपक से घट की।

जिस मकान में घड़ा है, परन्तु अन्धेरे में दिखता नहीं कि है या नहीं, किन्तु

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दीपक से दिखने लगता है। इसी प्रकार शब्द भी नित्य सनातन है, परन्तु उच्चारणादि से अभिव्यक्त=प्रकट हो जाता है, नया उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार शब्द को नित्य क्यों न माना जाए। उत्तर-

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत्सिद्धसाधनम् ॥ ६०॥ (३८७)

यदि सत् कार्य को सिद्धान्त मानें तो सिद्ध साधन है।

यदि कार्य अपनी अभिव्यक्ति (प्रकटता) से पहले भी सत् (विद्यमान) है तो सिद्ध का साधन है अर्थात् इस प्रकार तो सभी कार्य अपने कारण में लीन सत् कहे जा सकते हैं शब्द की ही नित्यता क्या हुई।

अब अद्वैतवादादि का खण्डन करते हुए पुरुष के भेदों का वर्णन आरम्भ करते हैं-

नाद्वैतमात्मनोलिङ्गात्तद्भेदप्रतीतेः ॥ ६१॥ (३८८)

आत्मा के लिंग (चिह्न) से उसका भेद प्रतीत होता है, इस कारण अद्वैत (केवल एक आत्मा) मानना ठीक नहीं।

जगत् में अनेक आत्मा हैं, एक नहीं, क्योंकि कोई सुखी, कोई दुःखी, इत्यादि भेद पाए जाते हैं।

नाऽनात्मनापि प्रत्यक्षबाधात् ॥ ६२॥ (३८९)

अनात्मा (जड़) से भी (चेतन होना) नहीं मान सकते क्योंकि प्रत्यक्ष का विरोध है।

प्रत्यक्ष देखते हैं कि जड़ से चेतन भिन्न है, इसलिये अनात्मावाद भी ठीक नहीं।

नोभाभ्यां तेनैव ॥ ६३॥ (३९०)

उसी हेतु से दोनों (आत्मा अनात्मा) से भी नहीं।

प्रत्यक्ष के बाध से ही दोनों से भी (एकता) नहीं पाई जाती। आत्मा-अनात्मा भी एक नहीं हो सकते इसी से।

यदि कहो कि हमको तो जड़ चेतन में भेद नहीं दिखता, एक ही वस्तु कभी जड़ और कभी चेतन जान पड़ती है? तो उत्तर-

अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥ ६४॥ (३९१)

उस में अन्य (प्रकृति) को पर (पुरुष) प्रतीत करना अविवेकियों का काम है। अविवेक से जड़ को चेतन या चेतन को जड़ और प्रकृति को पुरुष या पुरुष को प्रकृति मानने लग जाते हैं। इसलिये वह ठीक नहीं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नात्माऽविद्यानेभयं, जगदुपादानकारणे निःसङ्गत्वात् ॥६५॥ (३९२)

असंगत होने से न तो आत्मा (पुरुष) जगत का उपादान कारण हो सकता, न अविद्या हो सकती, न दोनों हो सकते।

आत्मा संगरहित है, वह किसी से जुड़ा हुआ नहीं अतः उस से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अविद्या स्वयं कोई द्रव्य नहीं, उस से द्रव्यान्तर क्या उत्पन्न होंगे? इसी प्रकार आत्मा और अविद्या दोनों इकट्ठे भी जगत का उपादान कारण नहीं हो सकते।

यदि कहो कि अच्छा पुरुष एक नहीं, अनेक रहो, प्रकृति पुरुष भी एक न सही, परन्तु पुरुष तो (जीवात्मा परमात्मा) एक है? उत्तर-

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥६६॥ (३९३)

एक जीवात्मा (पुरुष) में आनन्दरूपता और चिद्रूपता नहीं, दोनों के भेद से। 'रसंह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' तैत्ति० 2।7 इत्यादि प्रमाणों से यह पाया जाता है कि जीवात्मा स्वयं तो चिद्रूप ही है, आनन्दस्वरूप परमात्मा को पाकर आनन्द वाला होता है, जीवात्मा को अपना स्वरूपगत आनन्द नहीं किन्तु परमात्मा का आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों (जीवात्मा, परमात्मा) के भेद से दोनों को एक (आनन्दरूप और चिद्रूप) नहीं मान सकते। तो फिर सुखी क्यों प्रतीत होता है? उत्तर-

दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥६७॥ (३९४)

दुःख की निवृत्ति से गौण (सुखी) है।

पुरुष को सुखी इसलिये कहते हैं कि जब उसके दुःख दूर हुए तो वह सुखी है। परन्तु मुख्य सुखी या आनन्दी तो परमात्मा ही है, जीवात्मा गौण सुखी है। यदि कहो कि मुक्ति में तो जीवात्मा भी आनन्दस्वरूप हो जाता है, तो उत्तर-

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥६८॥ (३९५)

मुक्ति की प्रशंसा (यह कि उस में जीवात्मा आनन्दस्वरूप हो जाता है) मूर्खों ने की है।

जो लोग श्रुतिस्मृत्यादि तथा उपनिषदादि के तत्व को नहीं जानते वे मन्द (मूर्ख ही) कहते हैं कि मुक्ति में जीवात्मा आनन्दस्वरूप हो जाता है, किन्तु विद्वान तो यही मानते हैं कि जीवात्मा मुक्त होकर परमात्मा के आनन्दस्वरूप का अनुभव करता है, स्वयं रूप से तो सच्चिन्मात्र ही रहता है ॥68॥ अब मन के विभु होने पर खण्डन करते हैं-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥६९॥ (३९६)

मन व्यापक (विभु) नहीं हो सकता कारण या इन्द्रिय होने से।

जो कारण है या इन्द्रिय है वह कर्म से भिन्न देशवर्त्ती ही हो सकता है, कर्म पदार्थ में व्यापक हो तो अपूर्व क्रिया नहीं कर सकता। क्रिया की सिद्धि में साधकतम न हो तो कारण नहीं कहा सकता। कारण हो तो व्यापक नहीं हो सकता

सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः ॥७०॥ (३९७)

सक्रिय होने और गति सुनने से।

मन के विभु न होने में अन्य हेतु यह है कि मन सक्रिय है, विभु होता तो ठसाठस कूटस्थ परिपूर्ण होने से क्रिया कहां को करता? तथा- 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्यतथैवेति। दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव सङ्कल्पमस्तु' इत्यादि श्रुतियों से मन को चलने वाला (गतिमत) सुनते हैं इसलिये सर्वव्यापक नहीं हो सकता। श्रुति का अर्थ यह है कि जो मन जागते हुए का दूर तक जाता है, वही सोते का भी वैसे ही दौड़ता है। वह दूर जाने वाला ज्योतियों में मुख्य ज्योति मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो। तो क्या मन अणु (निरवयव) है? उत्तर-

न निर्भागत्वं तद्योगाद्घटवत् ॥७१॥ (३९८)

(मन का) निर्भाग होना भी नहीं, भाग के योग से, जैसे घड़े का।

जैसे घट अवयवों वाला (सावयव) है, क्योंकि वह अपने भागों से जुड़कर बना है, वैसे ही मन साऽवयव है। निरवयव नहीं अर्थात् मध्यम परिमाण वाला मन है। तो फिर मन नित्य कैसे है? उत्तर-

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम् ॥७२॥ (२९९)

प्रकृति और पुरुष से अन्य सब अनित्य है।

अर्थात् नित्य केवल दो ही पदार्थ हैं- (1. प्रकृति और 2. पुरुष=जीवात्मा परमात्मा)। अन्य मन आदि कोई पदार्थ नित्य नहीं।

क्यों जी! ईश्वर परमात्मा पुरुष के भाग (अवयव) न हों, न हों, परन्तु भोगी पुरुष (जीवात्मा) तो सावयव होगा? उत्तर-

न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥७३॥ (४००)

भोगां (पुरुष=जीवात्मा) के निर्भागत्व (निरवयव होना) श्रवण से भाग लाभ नहीं।

दो पुरुष 1- जीवात्मा 2-परमात्मा में एक जीवात्मा भोक्ता (भोगी) है, दूसरा परमात्मा भोगरहित है। इन दोनों में से भोगी (जीवात्मा) भी भाग (अवयव) वाला

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नहीं, निरवयव अणु सूक्ष्म है। 'अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' कठ 1।2।18। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृणामजोह्येको जुषमाणोनुशेते' श्वेताश्वतर 4।5। में उसको नित्य अज कहा है जिस से वह संयोग जन्य नहीं, अतः उसमें भाग (अवयव) नहीं बन सकते।

प्रश्न- जीवात्मा को आनन्दस्वरूप ही माना जाए, किन्तु संसाराऽवस्था में आनन्द तिरोभूत (छिपा) माने और मुक्ति में अभिव्यक्त (प्रकट) तो क्या हानि है? उत्तर-

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥७४॥ (४०१)

आनन्द का प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं, क्योंकि (आत्मा=पुरुष) का वह धर्म नहीं।

जीवात्मा स्वरूप से आनन्दधर्मी नहीं, इस लिये आनन्द का अविर्भाव ही मुक्ति नहीं कहलाती, किन्तु परमात्मा के आनन्द का अनुभव करना मुक्ति है।

न विंशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥७५॥ (४०२)

इस प्रकार विशेष गुणों का उच्छिन्न हो जाना भी (मुक्ति) नहीं कहलाती।

जैसे जीवात्मा में स्वाभाविक न होने से आनन्द का प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं वैसे ही जीवात्मा के स्वाभाविक दुःखादि गुणों के उच्छेद को भी मुक्ति नहीं कहते, क्योंकि वह स्वाभाविक विशेष (दुःखादि) गुणों वाला भी नहीं है।

और-

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥७६॥ (४०३)

निष्क्रिय जीवात्मा की विशेष गति भी (मुक्ति) नहीं।

जीवात्मा स्वरूप से क्रियावान् नहीं है, किन्तु प्रकृति संग से है और मुक्ति में प्रकृति संग छूट जाता है, तब जीवात्मा गतिमान भी स्वभाव से नहीं कि निरन्तर उर्ध्वगति ही का नाम मुक्ति हो सके।

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥७७॥ (४०४)

आकार के उप राग का उच्छिन्न होना भी मुक्ति नहीं, क्षणिकत्वादि दोष से।

जीवात्मा पर आकार का जो उपराग (ढकना) है, जो क्षणिक विज्ञानवादियों का मत है उस ढकने का उच्छेद भी वैदिकों की मुक्ति नहीं कहाता, क्योंकि वैदिक लोग पुरुष को क्षणिक विज्ञान तो नहीं मानते। इस कहने का सार यह है कि जो दोष क्षणिक विज्ञानवाद में हैं, वही उस मत की मुक्ति में हैं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥७८॥ (४०५)

सर्वनाश का नाम भी (मुक्ति) नहीं, क्योंकि अपुरुषार्थत्वादि दोष आता है।

प्रथम सूत्र में त्रिविध दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ कह आये हैं, यदि सर्वनाश रखें तो पुरुषार्थत्व आदि न रहेंगे क्योंकि सर्वनाश में पुरुष का नाश भी हो जाए, तो मुक्ति पुरुषार्थ कहां रही?

एवं शून्यमपि ॥७९॥ (४०६)

इसी प्रकार शून्य भी (मुक्ति) नहीं।

शून्यवादी, जो शून्य को ही मुक्ति मानते हैं, वह भी पुरुषार्थ न होने से मुक्ति नहीं कही जा सकती क्योंकि शून्य होने पर पुरुष ही न रहे तब पुरुषार्थ क्या रह जाएगा?

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि ॥८०॥ (४०७)

सब संयोग वियोगांत हैं इसलिये किसी देशादि का लाभ भी (मुक्ति) नहीं।

स्थान विशेष या देशविशेष वैकुण्ठादि, या धन विशेष, या स्त्री पुत्रादि विशेष का लाभ भी मुक्ति नहीं, क्योंकि यह पदार्थ संयोगी हैं और प्रत्येक संयुक्त पदार्थ एक रस नहीं नाशवान अर्थात् प्रतिक्षण नाशोन्मुख दौड़ रहा है। इसलिए नाशवान देश, धन, स्त्री आदि की प्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं हो सकता।

न भागियोगोभागस्य ॥८१॥ (४०८)

भाग का भागी में मिल जाना भी (मुक्ति) नहीं।

जो लोग जीवात्मा को ईश्वर का भाग (अंश) मानते हैं, उनके खण्डनार्थ यह सूत्र कहता है कि अंश अशी में मिल जाए इसका नाम मुक्ति इसलिये नहीं हो सकता कि (पूर्वसूत्र से संयोगाश्च वियोगान्ता:' को अनुवृत्ति करके) ऐसा मानने से तो ईश्वर में भी संयोग वियोग हुए, तो वही नश्वर हुआ, फिर तत्संयोग से मुक्ति क्या होगी?

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यं भावित्वात्तदुच्छित्ते रितरयोगवत् ॥८२॥ (४०९)

अन्य संयोगों के समान अणिमादि (सिद्धियों) का संयोग भी अवश्य (नष्ट) होने वाला है इसलिये वह भी (मुक्ति) नहीं कहलाता।

अणिमादि सिद्धियों के मिलने का नाम मुक्ति इसलिये नहीं बनता कि जैसे अन्य संयोगों का अवश्य वियोग नाश उच्छेद होना है, वैसे अणिमादि सिद्धि भी नाश वाली हैं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥८३॥ (४१०)

इसी प्रकार इन्द्रादि पदवी का मिलना भी (मुक्ति) नहीं।

जिस प्रकार अणिमादि सिद्धियां अवश्य नाश वाली हैं, इसी प्रकार इन्द्रादि पदवी भी शीघ्र नष्ट होने वाली हैं, अतः उनकी प्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं हो सकता।

प्र०-मुक्ति विषय में अन्यों का खण्डन करके सांख्याचार्य ने अपना मत क्यों नहीं दर्शाया? उत्तर-सांख्याचार्य तृतीयाध्याय के अन्तिम सूत्र 84 में अपना मत कह आये हैं कि-

'विवेकान्निशेषदुःखनिवृतौ तकृत्योनेरान्नेतरात्' ३।८४। (१९५)

देखो पीछे और आगे षष्ठाऽध्याय के 5 से 9 तक सूत्रों में भी कहेंगे। सांख्य का मत वेदानुकूल यह है कि विवेक से मुक्ति होती है और उसमें 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् विभेति कुतश्चन' तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली 2 अनुवाक 4 और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म योवेद निहितं गुहायाम् परमे व्योमन। सोऽश्नुते सवर्तान्, सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति। तैत्ति० 2।1 इत्यादि उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म के आनन्द को मुक्त जीवात्मा प्राप्त होता है, उसी का अनुभव करता है, उसकी सब कामना पूर्ण हो जाती है।

अब इन्द्रियों को भौतिकता का खण्डन करते हैं कि-

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारित्वश्रुतेः ॥८४॥ (४११)

इन्द्रियों की प्रकृति (कारण) 5 भूत नहीं हैं। क्योंकि (इन्द्रियों को) अहंकार का कार्य होना सुनते हैं।

यही बात पूर्व 2।20 (184) सूत्र में कह आये हैं कि 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' मुण्डकोपनिषद् 2।1।3। के श्रुति प्रमाण से इन्द्रियां अहंकार का कार्य हैं, परन्तु न्याय में तो भूतों का कार्य इन्द्रियां बताई हैं। यथा-

'घ्राणरसनचक्षुरत्वक श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः 1। 1। 12।।

तब क्या न्याय का मत श्रुति विरुद्ध है। उत्तर- नहीं क्योंकि पदार्थों की संख्या या विभाग सब शास्त्रों में एक सा ही नहीं है। न्याय में प्रथम 16 पदार्थ प्रमाणिदि बता कर उन 16 में से दूसरे 'प्रमेय' में 12 भेद ये कहे हैं कि- 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धि०।1।1।

1-आत्मा, 2-शरीर, 3-इन्द्रिय 4 -अर्थ (विषय), 5-बुद्धि, 6-मनस् 7-प्रवृत्ति, 8-दोष, 9-प्रत्याभाव, 10-फल, 11-दुख, और 12-मोक्ष। परन्तु इस में यह नहीं

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कहा कि 12 या 16 द्रव्य हैं या गुण कर्म हैं। इस व्यवस्था को वैशेषिक ने ठीक किया है और 6 पदार्थ विभाग करके माने हैं। तब क्या वैशेषिक से न्याय का कोई विरोध हो गया? कुछ नहीं संसार के पदार्थों को कोई कैसे गिनता है कोई कैसे, कोई कुछ संज्ञा रखता है, कोई कुछ। ये बातें विरोध की नहीं। इस प्रकार विचार से ज्ञात होगा कि जिस जगत के उपादान की सांख्य शास्त्र ने एक 'प्रकृति संज्ञा की है, उसी के न्याय दर्शनकार ने कारण द्रव्य मान कर 'पंचभूत' संज्ञा रक्खी है तब न्याय का भूतों से इन्द्रियोत्पत्ति मानना अपने मत के उपादान कारण रूप पंचतत्व (जिनको सांख्य में सत्वादि की साम्यावस्था कह कर प्रकृति माना है) के अभिप्राय से है न कि सांख्याभिमत प्रकृति के चौथे कार्य पचंस्थूल भूतों से और मैं समझता हूं कि इसी कारण सांख्यदर्शन के प्रणेता ने बुद्धिमानी की है जो सूत्र 1।61। में 'स्थूल भूतानि' कहते हुए कार्य रूप पंचभूत बताने को ही स्थूल शब्द विशेषणार्थ रख दिया है कि कोई न्याय के कारण द्रव्य पंच सूक्ष्म भूतों का अर्थ न समझ ले। बस जब व्यवस्था भेद है और न्याय के कारण भूतों का कार्य इन्द्रियां बताई गई हैं, ओर संख्या में कार्य (स्थूल) पंचभूत गिनाये हैं तब सांख्यकार ने-

'आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि 2। 20। ।

में इन्द्रियों के भौतिकत्व का जो खण्डन किया है वह अपने मत के स्थूल भूतों का कार्य न मानते हुए किया है, न कि न्यायाऽभिमत कारण या सूक्ष्मपंचभूतों के कार्यत्व का। अतएव परस्पर न्याय सांख्य में इस अंश में विरोध नहीं ।।84।।

क्यों जी! न्याय वैशेषिक के समान 6 या 16 पदार्थों के बोध से मुक्ति होना आप (सांख्याचार्य कपिल) क्यों नहीं मानते? उत्तर-

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥ ८५॥ ४१२)

छः पदार्थ का नियम नहीं, (अतः) उनके बोध से मुक्ति (भी हमने) नहीं कही!

वैशेषिकादि जिन्होंने वस्तु मात्र को प्रथम 1-द्रव्य 2-गुण 3-कर्म 4-सामान्य 5-विशेष 6-समवाय; इन छः पदार्थों में अन्तर्गत किया और फिर छः में से पहले एक द्रव्य में नौ 9-विभाग किये (1-पृथिवी 2-अप् 3-तेज 4-वायु 5-आकाश 6-काल 7-दिशा 8-आत्मा और 9-मन) उनकी परिभाषा के अनुसार (हमारे प्रकृति पुरुष का विवेक) छः पदार्थ और उन के अवान्तर भेद 9 द्रव्यादि के तत्व ज्ञान से होता है सो ठीक हो परन्तु हमने वस्तु मात्र को दो शब्दों (1 प्रकृति 2 पुरुष) में अन्तर्गत माना है छः का नियम नहीं किया, इस लिये हम षट् पदार्थ बोध से मुक्ति भी नहीं कहते। तथा-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न्याय द० अनुसार 16 तत्व हैं

षोडशादिष्वप्येवम् ॥८६॥ (४१३)

षोडश 16 आदि (पदार्थ मत) में भी ऐसा ही (जाने)।

न्याय में 1-प्रमाण 2-प्रमेय 3-संशय 4-प्रयोजन 5-दृष्टान्त 6-सिद्धान्त 7-अवयव 8-तक 9-निर्णय 10-वाद 11-जल्प 12-वितण्डा 13-हेत्वाभास 14-छल 15-जाति और 16-निग्रहस्थन। इन 16-पदार्थों के तत्व ज्ञान से मुक्ति कही है, परन्तु हम (सांख्य) ने केवल दो (प्रकृति पुरुष) संकेत रखे हैं इसलिये हम उन्हीं के विवेक से मुक्ति कहते हैं, षोडशादि से नहीं।

नाऽणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ॥८७॥ (४१४)

अणु नित्य नहीं हो सकते क्योंकि उनका कार्य होना सुनते हैं।

अणु शब्द से यहां निरवयव न्यायशास्त्रोक्त परमाणु की नित्यता का खण्डन नहीं है, किन्तु त्रसरेणु की नित्यता का निषेध कहा है जैसा कि सांख्याचार्य अगले ही सूत्र में अणु को सावयव मानते हैं।

न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ॥८८॥ (४१५)

कार्य होने से (अणु= त्रसरेणु) निरवयव भी नहीं हैं।

पूर्व सूत्र में त्रसरेणु की नित्यता न मानने में जो श्रुति को हेतु बताया है, वह श्रुति साक्षात् कहीं मिलती नहीं, इस बात को मानकर विज्ञानभिक्षु जी ने भी श्रुति शब्द से वेद श्रुति या उपनिषद् की श्रुति न पाकर कहा है कि-

यद्यप्यस्माभिः सा श्रुतिर्न दृश्यते काललुप्तवादिना, तथाप्याचार्यवाक्यान्मनुस्मरणाच्चानुमेया।

यथा मनु-

अणव्यो मात्रा विनाशिन्योदशार्धानां च यः स्मृताः ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः (मनुः १,२७) अर्थात् यद्यपि हमको कोई वैसी श्रुति नहीं दिखती, काल के हेर-फेर से लुप्त होना इत्यादि हेतुओं से। तथापि आचार्य के वाक्य और मनु के स्मरण से हमको अनुमान करना चाहिए, जैसा कि मनु कहते हैं कि 'सूक्ष्म हो (अणु से अण्वी) दश की आधी (5) तन्मात्रा विनाशिनी हैं। उन सहित यह सब जगत क्रम से उत्पन्न होता है' सांख्याऽऽर्यभाष्य और सांख्यसूत्र वैदिक वृत्ति में भी यहां अणु शब्द से त्रसरेणु का ही ग्रहण किया है, परमाणु का नहीं।

यदि कहो कि त्रसरेणु यदि सावयव और कार्य हैं तो प्रत्यक्ष उनका रूप क्यों नहीं दिखता? उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न रूपनिबन्धनात्प्रत्यक्षनियमः ॥८९॥ (४१६)

रूप के निबन्ध से प्रत्यक्ष का नियम नहीं।

यह नियम नहीं है कि रूपवान् पदार्थ का ही प्रत्यक्ष हो, किन्तु अन्य धर्मवान् पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होता है।

अब पदार्थों की स्थूल सूक्ष्मता में अपने अभिमत भेद कथन करते हैं-

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्यौगात् ॥९०॥ (४१७)

परिमाण 4 चार प्रकार के होने आवश्यक नहीं, क्योंकि दो प्रकार से ही निर्वाह हो जाता है।

कोई लोग जो परिमाण (माप) को चार 4 प्रकार का मानते हैं 1-अणु 2-महत 3-दीर्घ 4-ह्रस्व, सो ठीक नहीं क्योंकि केवल 1. अणु और 2. महत् इतने ही में सब परिमाण अन्तर्गत हो सकते हैं ।।90।।

यदि कहो कि जब तुम्हारे मत में प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त त्रसरेणु आदि सभी पदार्थ अनित्य हैं तो किसी की पहचान (प्रत्यभिज्ञा) कि 'यह वही है' कैसे होगी? क्योंकि कोई पदार्थ नित्य नहीं तब आज से कल को यह पहचाना कैसे जाता है कि यह वही कल देखा हुआ पदार्थ है? उत्तर-

अनित्यत्वेऽपि स्थिरता योगात् प्रत्यभि ज्ञानं सामान्यस्य ॥९१॥ (४१८)

अनित्य होने पर भी स्थिरता के योग से सामान्य की पहचान होती है।

जो पदार्थ अनित्य हैं, वे भी जितने काल तक स्थिर रहते हैं पहली समानता से पहचाने जाते हैं।

न तदपलापस्तस्मात् ॥९२॥ (४१९)

उस (समानता) का अपलाप (झुठलाना) नहीं हो सकता क्योंकि उस (समानता) से पहचान होती है।

यदि किसी अनित्य पदार्थ में आज से कल तक कोई समानता न रहती तो कोई पदार्थ पहचाना न जाता। जो लोटा या घट-पट हम ने आज देखा है वे बहुत अंशों में कल तक स्थिर एक सा (समान) रहता है इसी से तो पहचाना जाता है कि यह वही लोटा या घट या पट है, जो कल देखा था। पहचानना (प्रत्यभिज्ञा) ही स्थिरता और समानता की सिद्धि में हेतु है।

यदि कहो कि आज के देखे घट को कल पहचान सकना सामान्य की स्थिरता से नहीं, किन्तु अन्य पटादि से भेद (अन्यत्व) के कारण पहचान हो जाती है तो उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाऽन्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ॥ ९३॥ (४२०)

अन्य की निवृत्ति ही (सामान्य का) रूप नहीं, भाव की प्रतीति से।

एक घट, जिसको कल देखा था ओर आज प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है कि यह वही घट है ऐसी प्रत्यभिज्ञा इतने से नहीं हो सकती कि वह (घट) आदि पदार्थों से विलक्षण है क्योंकि पटादि से भिन्न रूप के तो अन्य घट भी हैं, परन्तु यह 'पहचान' कि यह वही कल वाला घट है, तभी हो सकती है, जबकि कल से आज तक घट विशेष में कोई समानता बनी रहती हो, कुछ काल तक स्थिर हो। इसलिये कल के देखे घट को आज पहचानने (प्रत्यभिज्ञात करने) में समानता ही हेतु है, अन्य (पटादि) पदार्थों से भिन्नरूपता हेतु नहीं।

यदि कहो कि सदृश होने से, 'पहचान' हो जाती होगी, समानता स्थिर नहीं? तो उत्तर-

न तत्त्वान्तरं सादृश्यं, प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥ ९४॥ (४२१)

(सामान्य से) सादृश्य कोई अन्य तत्व (वस्तु) नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष उपलब्ध है।

प्रत्यक्ष एक घट जो कल देखा था, ठीक वही, आज देखता हूं, ऐसी उपलब्धि होने से यह नहीं कह सकते कि कल से घट के सदृश दूसरा घट है, किन्तु वही घट प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, इसलिये सादृश्य कोई और बात नहीं, किन्तु सामान्य ही सादृश्य है।

यदि कहो कि सामान्य और सादृश्य एक बात कैसे हो सकती है? सादृश्य में तो साऽपेक्षता होती है? तो उत्तर-

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः ॥ ९५॥ (४२२)

अथवा स्वाभाविक शक्ति की अभिव्यक्ति को (सादृश्य कहते हैं) क्योंकि असाधारणता से उस (सादृश्य) की उपलब्धि होती है।

विशिष्टता (खसूसियत) से सादृश्य की प्रतीति या उपलब्धि होती है, इस कारण (या शब्द से) दूसरा पक्ष यह भी ठीक है कि सदृशपन अपनी स्वाभाविक शक्ति का अभिव्यक्त होना ही है अर्थात् उस-2 पदार्थ में स्थित उस प्रकार का जो शक्तिभेद है वह सर्वत्र सादृश्य की प्रतीति का विषय है, न कि कोई अन्य वस्तु (तत्व)। और-

न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ॥ ९६॥ (४२३)

संज्ञासज्ञि सम्बन्ध भी (सादृश्य) नहीं है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

घट-पट, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शब्दों का नाम संज्ञा है और घट पटादि शब्दों से जिन वस्तुओं को ग्रहण किया जाता है, वे संज्ञी हैं, उन दोनों के सम्बन्ध को भी सादृश्य नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा का विषय सामान्य या सादृश्य है न कि संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध। हम देखते हैं कि एक घट वस्तु की जैसे घट संज्ञा है वैसे ही दूसरे घट वस्तु की भी है, परन्तु 'यह वही घट है' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) संज्ञासंज्ञिसम्बन्धमात्र में नहीं होती।

यदि कहो कि शब्द और अर्थ में तो नित्य सम्बन्ध है, तब संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध (शब्दार्थ सम्बन्ध) को मान कर प्रत्यभिज्ञा क्यों नहीं हो सकती? तो उत्तर-

न सम्बन्धनित्यतोभयाऽनित्यत्वात् ॥ ९७॥ (४२४)

उभय (संज्ञा=घटादि शब्द और संज्ञी=घटादि वस्तु) इन दोनों के अनित्य होने से सम्बन्ध भी नित्य नहीं हो सकता ॥97॥ उसी बात को और स्पष्ट करते हैं-

नाऽजःसंबन्धोधर्मिग्राहकमानबाधात् ॥ ९८॥ (४२५)

सम्बन्ध अज (अनादि या नित्य) नहीं है, धर्मी के ग्राहक प्रमाण के न होने (बाध) से।

क्योंकि धर्मी=संज्ञी वस्तु के ग्राहक होने में को प्रमाण नहीं है, जब चाहें तब जिस पदार्थ की जो चाहें, सो संज्ञा रख सकते हैं, जब शब्द अर्थ में (संज्ञा-संज्ञी में) नित्य सम्बन्ध कहां रहा?

यदि कहो कि न्यायादि शास्त्रों में जो समवाय सम्बन्ध माना है, वही तो नित्य सम्बन्ध है। आप क्यों नहीं मानते? तो उत्तर-

न समवायोऽस्ति प्रमाणाऽभावात् ॥ ९९॥ (४२६)

प्रमाणाभव से (हमारे मत में) समवाय सम्बन्ध ही नहीं है।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय; ये छः पदार्थ को हमने अपने सांख्य में इस प्रकार विभक्त नहीं किये, जैसे वैशेषिक में हैं, तब हमारे यहां उसको नित्यत्व कथन करने में कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहो कि प्रमाण क्यों नहीं है? प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण तो हैं, तो उत्तर-

उभयत्राऽप्यन्यथासिद्धेर्नप्रत्यक्षमनुमानं वा ॥ १००॥ (४२७)

प्रत्यक्ष और अनुमान (प्रमाण) इसलिये नहीं हो सकते कि दोनों में अन्यथा (समवाय के बिना ही) सिद्धि है।

हमारे मत में स्वरूप सम्बन्ध से ही काम चल जाता है, इसलिये प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से भी समवाय सम्बन्ध मानना आवश्यक या अपेक्षित नहीं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

बात यह है कि जिस सम्बन्ध को न्याय वैशेषिक में समवाय सम्बन्ध कहते हैं, उसी को वेदान्त दर्शन में तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं और उसी को योग और सांख्य में स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं, कोई विरोध नहीं है, केवल परिभाषा भेदमात्र है।

अब इस मत का खण्डन करते हैं कि क्रिया सर्वथा अनुमेय है-

नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्टस्य तत्तद्वतोरेवाऽपरोक्षप्रतीतेः ॥१०१॥ (४२८)

क्रिया को केवल अनुमेय (अनुमानगम्य) ही न मानना चाहिये क्योंकि अतिसमीपस्थ (पुरुष आदि चलने वाले) की क्रिया और क्रियावान् में अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) प्रतीति होती है।

जब कोई हमारे पास ही चलता है तो हम चलना क्रिया और चलने वाले देवदत्तादि को प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिये जो लोग क्रिया को प्रत्यक्ष समान कर केवल अनुमेय मानते हैं, वह ठीक नहीं।

जो लोग समान प्रधानता वाले पांच भूतों से देह की उत्पत्ति मानते हैं, उनका खण्डन-

न पाञ्चभौतिकं शरीर बाहूनामुपादानाऽयोगात् ॥१०२॥ (४२९)

शरीर पंचभौतिक नहीं हो सकता, क्योंकि (एक कार्य के) बहुत उपादान कारण होने युक्त नहीं।

लोग कहेंगे कि सांख्यकार यह क्या कहने लगे, स्थूल शरीर तो पंच भौतिक है ही, परन्तु जानना चाहिए की समप्रधान 5 भूतों से शरीरोत्पत्ति का निषेध करते हैं, विषमों (पंचभूतों) से उत्पत्ति मानना, इन को अनिष्ट नहीं।

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥१०३॥ (४३०)

सूक्ष्म शरीर के विद्यमान होने से यह नियम नहीं कि स्थूल ही शरीर है।

एक स्थूल देह से दूसरे स्थूल देह तक ले जाने वाले=अतिवाहिक=सूक्ष्म शरीर के विद्यमान होने से यह नियम ठीक नहीं कि स्थूल ही एक शरीर है, जो पांच भौतिक है, किन्तु सूक्ष्म शरीर भी तो शरीर ही है जो स्थूल पंचमहाभूतों से नहीं, किन्तु सूक्ष्म 17 तत्वों से बनता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नाऽप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ॥ १०४॥ (४३१)

इन्द्रियों को अप्राप्त प्रकाशकत्व नहीं है। क्योंकि प्राप्ति का अभाव है, अथवा सब की प्राप्ति हो (सो भी नहीं)।

इन्द्रियां अप्राप्त (असंबद्ध) पदार्थ का प्रकाश करने वाली नहीं हैं, किन्तु जो जो पदार्थ उन इन्द्रियों के प्राप्त (विषयीभूत=संबद्ध) होते हैं, केवल उन्हीं का प्रकाश (ज्ञान=बोध) कराती हैं, क्योंकि देखा जाता है कि अप्राप्त पदार्थों को इन्द्रियां बोधित नहीं करती। अन्थया यों कहिये कि यदि अप्राप्त प्रकाशक होती तो उन इन्द्रियों से सबकी प्राप्ति (उपलब्धि=ज्ञान=बोध) हो जाती है तब तो जीव इन्द्रियों के साहयर्च से सर्वज्ञ हो जाता । किन्तु ऐसा है नहीं इसलिये इन्द्रियां अप्राप्त प्रकाशक नहीं हैं।

नतेजोऽप्यसर्पणात्तैजसंचक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ॥ १०५॥ (४३२)

तेज पर दौड़ने से आंख इन्द्रिय को तैजस नहीं कह सकते क्योंकि वृत्ति से उसकी सिद्धि है।

यदि कहा कि इन्द्रियां स्थूल पंच महाभूतों का ही कार्य हैं क्योंकि एक चक्षु (आंख) को ही देख लो कि वह तेज पर दौड़ती है, जिससे जाना जाता है कि तैजस है। इसका उत्तर देते हैं कि चक्षु इन्द्रिय तेज पर नहीं दौड़ती, किन्तु चक्षु की वृत्ति मात्र तेज पर दौड़ती है। यह कोई नहीं कह सकता कि आंख आदि इंद्रियां अपनी जगह छोड़कर तेज आदि रूप पर दौड़ती हैं। प्रत्युत् आंख अपने स्थान में ही रहती हुई केवल अपनी वृत्ति से देशान्तरस्थ तैजस रूप का ग्रहण करती हैं, इसी प्रकार अन्य इंद्रियों के विषय में जानिये।

यदि कहो कि वृत्ति कोई वस्तु नहीं केवल इंद्रियां ही हैं, तो उत्तर-

प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद्वृत्तिसिद्धिः ॥ १०६॥ (४३३)

प्राप्त अर्थ के प्रकाश रूप लिंग से पाया जाता है कि वृत्ति है।

असंबद्ध (अप्राप्त) पदार्थ को इन्द्रियां नहीं जतातीं, तो भी प्राप्त को अवश्य जताती हैं और इन्द्रियां अपने स्थान में बनी भी रहे और अपने सामने आए पदार्थ को भी जताएं, यह तब ही हो सकता है जब कि इन्द्रियों के अतिरिक्त इन्द्रियों की वृत्ति भी कोई पदार्थ हो। इससे वृत्ति सिद्ध है।

क्यों जी! वह वृत्ति क्या वस्तु है? क्या जैसे आग में से चिंगारी निकलती है ऐसे चक्षु आदि इन्द्रियों से वृत्ति चिंगारी के समान निकलती है? अथवा क्या रूप रसादि के समान कोई गुण है या क्या है? उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भोगगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिःसंबन्धनार्थं सर्पतीति ॥ १०७॥ (४३४)

भाग और गुण से भिन्न वस्तु वृत्ति वह है, जो सम्बन्ध के लिये दौड़ती है।

चक्षु आदि इन्द्रियों को विषयों से सम्बन्ध कराने वाली वृत्ति है। उस वृत्ति को चक्षु आदि का भाग (चिंगारी के समान) तो इसलिये नहीं मान सकते कि अग्नि की चिंगारी स्वयं निकलकर बाहर हो जाती है, किन्तु अग्नि से किसी पदार्थ का सम्बन्ध नहीं कराती। ऐसे ही यदि आंख की वृत्ति आंख से निकलकर विषय में पहुंच जाए तो वृत्ति और विषय में सम्बन्ध होगा न कि आंख और विषय में। किन्तु सम्बन्ध होता है आंख और विषय में। इससे जाना जाता है कि वृत्ति कोई चिंगारी के समान भाग नहीं है और रूपादि के समान आंख आदि का गुण=वृत्ति होती तो आंख आदि से निकल कर विषय तक न जा सकती क्योंकि कोई गुण अपने द्रव्य को त्याग कर जा नहीं सकता और वृत्ति अवश्य जाती है इससे जाना गया कि वृत्ति कोई गुण भी नहीं है अब वृत्ति को क्या वस्तु समझें? उत्तर-चक्षुरादि इन्द्रियों का अति सूक्ष्म परिणाम जो अहंकार का कार्य है, ऐसा कोई पदार्थ वृत्ति समझो।

यदि कहो कि चक्षु कोई 9 द्रव्यों में से द्रव्य नहीं, फिर उसकी वृत्ति विषय देश तक जानी कैसी संभव है? तो उत्तर-

न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ॥ १०८॥ (४३५)

उस (क्रिया) के योग से द्रव्य का नियम नहीं।

हमारे सांख्य की परिभाषा में वैशेषिक के समान 9 द्रव्यों का नियम नहीं, किन्तु हम तो क्रिया के योग से द्रव्य मानते हैं। इस लिये हम आंख को भी द्रव्य मानते हैं और फिर उस की वृत्ति का बाहर विषय देश में जाना असम्भव नहीं रहता।

न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ॥ १०९॥ (४३६)

देश भेद में भी (इन्द्रियों को) अन्य उपादानता नहीं हो सकती (किन्तु) अस्मदादि के समान (सर्वत्र) नियम है।

जैसे हमारे देश में इन्द्रियों का उपादान कारण अहंकार है, वैसे ही अन्य देशों में भी हमारे समान ही सर्वत्र नियम हैं, अन्य देशों के प्राणियों की इन्द्रियों का उपादान भी अहंकार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

यदि कहो कि जब किसी देश में भी इन्द्रियों का कारण पंचभूत नहीं है, अहंकार ही है तो अन्य वेदानुकूल न्यायादि दर्शनकारों ने इन्द्रियों को भौतिक क्यों कहा ? उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः ॥११०॥ (४३७)

निमित्त के कथन से वह कथन है।

अहंकार भूतों में रहता है, भूतों में से इन्द्रियां बनती हैं, इसलिये यह कहा जाता है कि इन्द्रियां भूतों से बनीं, परन्तु वास्तव कथन में बात यही है कि भूतों में स्थित अहंकार से ही इन्द्रियों की उत्पत्ति है। जैसे ईधन में आग सुलगती है तब कहते हैं कि ईधन से आग उत्पन्न हुई परन्तु ईधन तो अग्नि के उद्भव का निमित्त मात्र है न कि उपादान कारण। ऐसे ही भूत भी इन्द्रियों के उपादान नहीं, किन्तु निमित्त हैं, निमित्त के कथन से उसको उपादान कह दिया जाता है।

जैसा कि हम पहले भी इस विवाद में लिख चुके हैं कि अन्य शास्त्रकारों का कथन अपनी परिभाषानुसार है। उन्होंने प्रकृति का नाम ही पंचभूत (सूक्ष्म) रख कर अपना सब काम चलाया है। उन शास्त्रों में अहंकार नामक कार्य वस्तु का निरूपण नहीं, अतः उन्होंने अहंकार से इन्द्रियोत्पत्ति नहीं कही। सांख्याचार्य स्थूल भूतों में व्याप्त उन्हीं सूक्ष्म अणुओं को अहंकार शब्द से कहते हैं, जो इन (सांख्यकार) को परिभाषा में प्रकृति का दूसरा कार्य है, प्रकृति से 1. महत्, महत् से 2. अहंकार। यथार्थ में प्रकृति के इन दोनों कार्यों का उन्होंने (अन्य न्यायादिकारों) ने गिना ही नहीं है और यह हो सकता है कि कारण से कार्य बनने से जो परिणति भेद उत्पन्न होते हैं, उनमें से कई एक को कोई गणना में न लाए। मिट्टी से घड़ा बनता है, तब मिट्टी कारण और घड़ा कार्य है, यह कथन असंगत नहीं, परन्तु मिट्टी से घड़ा बनने तक बीच की अवस्था भी तो होती है। जिन अवस्थाओं में मिट्टी न तो केवल मिट्टी संज्ञक ही हो, न घड़ा ही बन गई हो, किन्तु मिट्टी और सिद्ध घट के बीच में की अवस्था भी एक और है, जब कि मिट्टी ठीक घड़ा तो नहीं बनी प्रत्युत कुछ गोला-सा बनी फिर लम्बी की गई फिर भीतर-भीतर पोलयुक्त की गई, फिर पोलदार गोला बना, फिर गर्दन निकाल कर ठीक घड़ा बनी। अब बीच की अवस्था के विचार से कोई मिट्टी की अन्य संज्ञायें रखे और उनसे घड़े की उत्पत्ति बनाए तो अनर्थ क्या है? ठीक तो है परन्तु दूसरे सब लोग मिट्टी को कारण और घट को मिट्टी का कार्य कहें तो वह भी कुछ विरुद्ध कहने वाले नहीं समझे जा सकते। इसी प्रकार प्रकृति से महत्, अहंकार इन दोनों के बीच के परिणामों का कुछ नाम न धर कर सूक्ष्म=भूतों (पंचतन्मात्रों) से इन्द्रियों की उत्पत्ति कहने वाले अन्य शास्त्रकारों ने कोई एक अंश में ही उसी उद्देश्य पर विरुद्धवाद नहीं किया। यह बात बहुत ध्यान से विचारने योग्य है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

ऊष्मजोण्डजजरायुजोभिदज्जसांकल्पिकं सांसिद्धिकं चेति न नियमः ॥१११॥ (४३८)

1. ऊष्मज, 2. अण्डज, 3. जरायुज, 4. उद्भिज्ज, 5. सांकल्पिक, 6. सांसिद्धिक, (शरीर) हैं, इतना ही नियम नहीं।

1. ऊष्मा=भाप से या पसीने से या सीलन से उत्पन्न हुए जूं, मच्छर इत्यादि, 2. अण्डे से उत्पन्न पक्षी आदि, 3. जरायु=जेर से उत्पन्न मनुष्य, पशु=गौ आदि, 4. उद्भिद्=पृथ्वी को फोड़ने से उत्पन्न औषधि, वनस्पत्यादि, 5. संकल्प से ईश्वर ने जिस अमैथुनी सृष्टि को उत्पन्न किया वह सांकल्पिक और 6. योगी लोग सिद्धियों के बल से जिन जिन देहों को धारण कर लेते हैं वे सांसिद्धिक देह हैं, परन्तु इतना ही नियम नहीं, परमात्मा की सृष्टि में इन छः के अतिरिक्त भी न जाने कितने प्रकार के देह हैं। तो भी-

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद् व्यपदेशः पूर्ववत् ॥११२॥ (४३९)

सब (शरीरों) में पृथ्वी विशेष से उपादान है, इसलिये उसका कथन पूर्ववत् (जानो)।

ऊष्मजादि चाहे कई प्रकार के देह हैं, तथापि सब में विशेष करके पृथ्वी उपादान कारण है, अन्य साधारण कारण हैं और शरीर का 'पार्थिव' कहना (व्यपदेश) पूर्ववत जानो अर्थात् जैसे पहले सूत्र 110 में कह आये हैं कि स्थूल पंचभूतस्थ अहंकार से उत्पन्न होने वाले इन्द्रियों को भौतिक कहा जाता है, वैसे ही पृथ्वीस्थ अन्य भूतों का कार्य होने पर भी देहों को 'पार्थिव' कहा जाता है।

न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः ॥११३॥ (४४०)

देह के आरम्भ करने वाले (वायु) को प्राण नहीं कह सकते क्योंकि उस (प्राण) की सिद्धि इन्द्रियशक्ति से है।

देह का उपादान कारण (वायु) प्राण नहीं क्योंकि प्राण स्वयं इन्द्रियों के सामर्थ्य से सिद्ध होता है, जैसा कि पहले कह चुके हैं कि 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्यावायवः पंच'।2।।।3। (195) और इंन्द्रियां मिलकर देह बनता है।

तो क्या केवल पृथिव्यादि जड़ तत्व ही देह को उत्पन्न कर लेते हैं।

उत्तर- नहीं, किन्तु-

भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथापूर्ति भावप्रसङ्गात् ॥११४॥ (४४१)

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भोक्ता (जीवात्मा) के अधिष्ठान से भोगायतन (देह) की रचना होती है, नहीं तो सड़ी राध का प्रसंग होने से।

यदि देह के उपादान स्त्री के शोणित और पुरुष के वीर्य में जीव आकर अधिष्ठाता न बने तो देह उत्पन्न नहीं हो सकता, प्रत्युत वे शुक्र शोणित सड़ जाते हैं, और पूतिभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

यदि कहो कि देहादि का उत्पादक और अधिष्ठाता जीव है तो जीवात्मा को कूटस्थ कैसे बता सकोगे? तो उत्तर-

भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ॥११५॥ (४४२)

स्वामी का अधिष्ठान भृत्य (सेवक) के द्वारा है न कि अकेले से।

देह को अधिष्ठाता और उत्पादक यद्यपि जीवात्मा है परन्तु अकेला नहीं किन्तु अपने भृत्य प्राण के द्वारा।

यदि कहो कि प्राण भृत्य द्वारा जीव को अधिष्ठाता क्यों मानते हो और क्यों जीव को वस्तुतः कूटस्थ मानते हो? सीधा जीवात्मा को ही साक्षात् अधिष्ठाता मान लें तो क्या दोष है? उत्तर-

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥११६॥ (४४३)

समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में (जीव को) ब्रह्मरूपता हो जाती है।

यदि साक्षात् जीवात्मा ही अधिष्ठाता होता तो समाधि में, सुषुप्ति में और मोक्ष में भी ब्रह्म के सदृश कूटस्थ, संगरहित, निदुःख न हो सकता, परन्तु होता है। इस से पाया जाता है कि वह भृत्य द्वारा ही अधिष्ठाता है, साक्षात् अकेला स्वयं नहीं।

कोई लोग यहां 'ब्रह्मरूपता' शब्द देख कर समझते हैं, कहते हैं और अपने बनाये भाष्यों और टिप्पणी या टीकाओं और अनुवादों में भी लिखते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं, एक है। परन्तु उनको नीचे लिखे वचनों पर ध्यान देना चाहिए।

१-यदा पञ्चाऽवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेते तमाहुः परमाङ्गतिम्।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

कठोपनिषद् वल्ली 6 काण्डिका 10।11। इस का अंर्थ यह है कि 'जब 5 ज्ञानेन्द्रियां' छठे मन सहित रुक जाए और बुद्धि भी कोई चेष्टा न करें, उसी स्थिर इन्द्रिय धारणा को योग मानते हैं, उसी को परमगति कहते हैं, ब्रह्म बन जाने को नहीं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

२-यत्रेतत्पुरुषः स्वपिति नामसता सौम्य तदा संपन्नो भवति=स्वमपोतो भवति। तस्मादेनथ्ठं- स्वपितीत्याचक्षते॥

छान्दोग्योपनिषद् ब्राह्मण 6 खण्ड 8 कण्डिका 1॥

इस में जीव के शयन का वर्णन है कि शयन, स्वप्न या निद्रा क्या है। 'जिस अवस्था में यह पुरुष (जीवात्मा) सोता है अर्थात् सत् (प्रकृति) से सम्पन्न हो जाता है, अपने आपे को प्राप्त हो जाता है, हे सौम्य! (श्वेतकेतु) उस अवस्था में इसकों कहते हैं कि सोता है'॥ देखिये यहां भी शयन को ब्रह्म बन जाना नहीं कहा।

३-द्वासुपर्णा सयुजासखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

४-जुष्टं यदा पश्यत्यत्यमीशमस्य महिमानमितिवीतशोकः।

5-यदा पश्चःपश्यते रुक्मवणंकर्त्तारमीशं पुरुषंब्रह्मयोनिम् तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति

मुण्डकोपनिषद् मुण्डक 3 खण्ड 3 कं० 1।2।3।

3-में जीवात्मा परमात्मा दो (2) कहे गये हैं।

4-में कहा है कि जब अपने से अन्य ईश्वर को देखता है तब मोक्ष को प्राप्त होता और दुःखों से छूटता है। इससे पाया जाता है कि मोक्ष में ब्रह्म नहीं बन जाता, किन्तु ब्रह्म को देखता है।

5-में कहा है कि जब तेजस्वी, कर्त्ता, ईश्वर, पुरुष, ब्रह्म इत्यादि पद वाच्य ब्रह्म को देखता है तब पुण्य-पाप को त्याग कर निर्दोष होकर अत्यन्त समानता को प्राप्त होता है, जिससे पाया जाता है कि दुःख रहितता और आनन्द भोग में ब्रह्म के समान हो जाता है, न कि ब्रह्म ही हो जाता है।

६-ब्रह्मविदाऽऽप्नोति परम्॥

तैत्ति० ब्रह्मानन्द वल्ली 2 अनुवाक ।।1॥

ब्रह्म का जानने वाला (जीवात्मा) दूसरे (परमात्मा) को प्राप्त होता है। इसमें भी ब्रह्म बन जाना नहीं कहा।

७-यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कदाचनेति॥

तैत्ति० ब्रह्मानन्द वल्ली 2 अनु०4

जिस ब्रह्म को बिना पाये वाणी मन सहित हट जाती है, उस ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ किसी समय भय नहीं करता। इसमें भी निर्भय निरामय पद मुक्ति में ब्रह्म के आनन्द का जानना कहा है, न कि ब्रह्म बन जाना।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

८-अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाह्वी:प्रजा: सृजामानांसरूपा: अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेतेजहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य।:५

श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ४।

भाषार्थ- इसमें परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति इन तीनों का वर्णन करते हैं कि-(एकाम्) एक (सरूपा: वह्वी:, सृजमानाम) अपने सी, बहुत प्रजा को उत्पन्न करती हुई (लोहितशुक्लकृष्णाम्) रज: सत्व तम: वाली (अजाम्) अनादि प्रकृति को (एक: अज:) एक अजन्मा जीवात्मा (जुषमाण:) सेवता हुआ (अनुशेते) लिपटता है। परन्तु (अन्य:) हि, अज:) दूसरा, अजन्मा परमात्मा (भुक्तभोगाम्) जीव से भोगी हुई (एनाम्) इस (प्रकृति) को (जहाति) नहीं लिपटता।

एक अजा प्रकृति दो अज जिनमें से एक जीवात्मा है, जो त्रिगुणात्मक जगत के कारण प्रकृति से लिप्त होता है और दूसरा परमात्मा पृथक् रहता है।

९-द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य:पिप्पलस्वाद्व-त्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ४।६।

भाषार्थ-उक्त विषय में ऋग्वेद अष्टक 2 अध्याय 3 वर्ग 17 की ऋचा को कहते हैं कि-(द्वा) दो (सुपर्णा) पक्षी (सयुजा) साथ मिले हुए (सखाया) मित्र से हैं और (समानम्) अपने समान (वाम्) वुक्ष के (परिषस्वजाते) सब और से संग हैं (तयो:) उन दोनों में से (अन्य:) एक तो (पिप्पलम्) फल को (स्वादु) स्वाद मना कर (अत्ति) खाता है और (अन्य) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभिचाकशीति) साक्षिमात्र है।

प्रकृति रूप एक वृक्ष है। इसे वृक्ष की उपमा इस कारण दी है कि वृक्ष शब्द छेदन अर्थ वाले ब्रश्चू धातु से बना है। प्रकृति विकृत होती और छिन्न-भिन्न होती रहती हैं। इस वृक्ष में दो पक्षी रहते हैं, ये परमात्मा और जीवात्मा हैं। वृक्ष अचलत्व से असमर्थ होता है और पक्षी कर्म समर्थ होते हैं इसलिये इन दोनों आत्माओं का पक्षियों की उपमा दी गई हैं, वृक्ष को समान इस अंश में कहा है कि वह भी अनादि है; इन दोनों को सुयज इसलिये कहा है कि व्याप्य व्यापक भाव से एक दूसरे से संयुक्त हैं। मित्र इसलिये कहा है कि चेतनत्वादि कई बातों में मित्रों के सामन एक से हैं। भेद बड़ा भारी यह है कि एक वृक्ष के फल खाता अर्थात् कर्म करता और उनके फल भोगता है और दूसरा परमात्मा क्लेश धर्मविपाकाशयों से सर्वथा पृथक है।

१०-समाने वृक्षे पुरुषों निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान:
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमितिवीतशोक: ॥७॥

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

भाषार्थ- अब मध्यस्थ जीवात्मा के एक ओर प्रकृति है, उसके संग से बन्धन और दूसरी ओर परमात्मा है, उसके संग से मोक्ष होता है। सो कहते हैं (पुरुषः) जीवात्मा (समाने) अपने समान अनादि (वृक्षे) छिन्न-भिन्न होने वाली प्रकृति के पदार्थों में (निमग्नः) डूबा हुआ (अनीशया) परतन्त्रता से (मुह्यमानः) अज्ञान वश (शोचति) शोक करता है (यदा) परन्तु जब (जुष्टम्) अपने में व्यापक (अन्यम) दूसरे (ईशम्) स्ववश परमात्मा को और (अस्य महिमानम्) उसकी बड़ाई को (पश्यति) देखता है (इति) तब (बीतशोकः) शोकरहित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा प्रकृति के कार्यों में डूबकर आपे को भी भूल जाता है और देह ही को आत्मा समझने लगता है तो बड़े शोक होते हैं कि हाय! में दुर्बल हो गया, हाय! मेरे फोड़ा निकला है, हाय! मेरा हाथ-पांव आदि कट गया, हाय! मेरी स्त्री या पुत्रादि मर गया। इत्यादि प्रकार से शोक सागर में डूबता है, परन्तु जब अपने ही में व्यापक परमात्मा में ध्यान लगाता है तो प्रकृति का ध्यान छोड़ने से समझने लगता है कि देह से भिन्न मैं चेतन हूं। मैं दुर्बल रोगी आदि नहीं होता। मुझे तो अपने सदा सहवर्ती परमात्मा के आनन्द से आनन्द ही आनन्द है। 'ऐसी रीति से विशोक हो जाता है'।

द्वयोह सबीजमन्यत्र तद्धतिः ॥११७॥ (४४४)

दो में सबीज और अन्यत्र (तीसरे) में उस बीज का नाश हो जाता है।

1-समाधि, 2-सुषप्ति, 3-मोक्ष इन तीन अवस्थाओं में पूर्व सूत्र से ब्रह्मरूपता कही गई है। उन तीनों में से पहली दो अवस्थाओं (1. समाधि 2. सुषुप्ति) में तो अधिष्ठातृत्व का बीजमात्र रहता है, परन्तु 3 मोक्ष में उस बीजमात्र का भी नाश हो जाता है, यही मोक्ष में समाधि और सुषुप्ति से विशेष है।

यदि कहो कि समाधि और सुषुप्ति तो देखी हुई हैं परन्तु मोक्ष तो देखा नहीं जाता, फिर दो ही (समाधि सुषुप्ति) अवस्था क्यों न मान लें, तीसरे मोक्ष की क्या आवश्यकता है? उत्तर-

द्वयोरिव त्रयस्याऽपि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ॥११८॥ (४४५)

दो के समान तीनों के दृष्ट होने से केवल दो ही नहीं (मान सकते)।

जैसे समाधि और सुषप्ति को सबने अनुभव नहीं किया, किन्तु निश्चिन्त पुरुषों ने सुषुप्ति और योगियों ने समाधि का अनुभव किया है, वैसे ही प्रकृति पुरुष के पूर्ण विवेक सम्पन्न पुरुषों ने मोक्ष का भी अनुभव किया है। इसलिये यह नहीं कह सकते कि केवल समाधि सुषुप्ति दो ही अवस्था में ब्रह्मरूपता है, किन्तु निर्जीव ब्रह्मरूपता तो तीसरी मोक्ष ही है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि कहो कि समाधि में तो क्लेश कर्मादि वासना के कुण्ठित हो जाने और सब वृत्तियों के लय हो जाने से जीवात्मा को अधिष्ठातृत्व से छुटकारा होना और ब्रह्मरूपता होना मान सकते हैं, परन्तु सुषुप्ति में कैसे मान सकते हैं, जबकि क्लेश कर्मादि की वर्त्तमानता है? उत्तर-

वासनयाऽनर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न, निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ॥ ११९॥ (४४६)

दोष के योग होते हुए भी वासना से अनर्थ की ख्याति नहीं हो सकती और निमित्त को मुख्य बाधकता है।

यद्यपि सुषुप्ति में तमोगुण दोष का योग है तो भी वासना से कोई अनर्थ (क्लेशादि) प्रकट नहीं हो सकता और सुषुप्ति का निमित्त तमोगुण मुख्यतया दुःखादि को रोके रहता है। इसलिये सुषुप्ति में भी ब्रह्मरूपता (निर्दुःखता अंश में) अवश्य है।

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्त्तको, न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः ॥ १२०॥ (४४७)

एक संस्कार क्रिया को सिद्ध कर देने वाला है, किन्तु प्रत्येक क्रिया के अनेक भिन्न-भिन्न संस्कार नहीं होते क्योंकि (फिर तो) बहुत कल्पना करनी पड़ेगी।

कुम्भकार चाक को एक बार बल पूर्वक घूमने का संस्कार (वेग) दे देता है, वह एक ही वेगाख्य संस्कार उस चक्र (चाक) को अनेक बार घुमाता है, यह नहीं कि चक्र को एक-एक आवृत्ति के लिये भिन्न-भिन्न वेग (घूम) देने पड़े। इसी प्रकार जीव भी पूर्वकृत कर्मों के संस्कारवश अनेक प्रकार के भोगार्थ क्रिया करते हैं, यह आवश्यक नहीं कि अनेक संस्कार युगपत् या क्रम से हों तभी अनेक क्रियाएं हों।

पूर्व, जो कहा था (सूत्र 111 (438)) कि उद्भिज्ज भी जीव का देह है, उस पर शंका होती है कि सब योनिस्थ जीवों को बाह्य पदार्थों का ज्ञान (बोध) होता है, परन्तु उद्भिज्ज वृक्षादिकों को तो नहीं होता, तब क्या उद्भज्जों में कर्म संस्कारजनित फल भोग भी नहीं है? उत्तर-

न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥ १२१॥ ४४८

बाह्य बुद्धि का नियम नहीं क्योंकि वृक्ष, गुल्म, लता, औषधि, वनस्पति, तृण और वीरुध् आदि को भी पूर्व (ऊष्मजल अण्डजादि) के तुल्य भोक्तृ भोगायतनत्व है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

वृक्षादि में भी जीव भोक्ता है, उनका देह भोगायतन है, जैसा कि उद्भिज्ज से पूर्व गिनाये ऊष्मज, अण्डज, जरायुजादि में है इसलिये यह नियम नहीं कि सब योनियों में बाह्य बुद्धि ही हो। प्रत्युत किसी योनि में बाह्य पदार्थों के देखने आदि को बुद्धि है, और किसी-किसी में नहीं 1. वृक्ष वे कहलाते हैं जिन पर पुष्प से फल उत्पन्न हों, जैसे आम्रादि। 2. झांदें के आकार वाली झाड़ी बेर आदि छत्ते वाले 'गुल्म' हैं। 3. गुडूची सोमलतादि सूत निकलने वाली बल्लियां 'लता' हैं। 4. जिन पर एक बार फल आकर पक कर उनका अन्त कर दें, वे सब गोधूमादि 'औषधि' कहे जाते हैं। 5. जिनमें पुष्प के बिना ही फल लग जाएं, जैसे गूलन, पीपलादि ये 'वनस्पति' हैं। 6. दूर्वा आदि जड़ों से फैलने वाले तृण कहलाते हैं। 7. शांखादि से बहुत फैलाव वाली जो वेली हैं, वे वीरुधसंज्ञक हैं आदि शब्द से और अनेक, जिन पर फल नहीं आते, केवल पुष्प ही आते हैं, उन असंख्य उद्भिज्जों का ग्रहण हैं, वृक्षादि भेदों के लक्षण मनु 1।6-8 में कहे हैं ।।121।।

सांख्यकार कहते हैं कि बाह्य बुद्धि के बिना भी भोक्तृभोगायतन मानना स्मृति से भी सिद्ध हैं तथाहि-

स्मृतेश्च ॥१२२॥ (४४९)

स्मृति से भी (वृक्षादि को भोक्तृभोगायतनत्व पाया जाता है) जैसा कि मनु अ० 12 में कहा है कि-

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥९॥

> ❖टिप्पणी-महादेव वेदान्ती जी ने अपनी वृत्ति में 121 वें सूत्र के दो सूत्र मान कर वृत्ति की है। उन्होंने
>
> **'न बाह्यबुद्धिनियमः' ॥ १२१॥**
>
> सूत्र करके, फिर उत्थानिका उठाई है कि-'जङ्गमशरीरन्यायंस्थावरेऽतिदिशति-
>
> **'वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्व पूर्ववत्' ॥ १२१॥**
>
> इस कारण उनकी वृत्ति के अनुसार पंचमाऽध्याय के सब 129 के स्थान में 130 सूत्र हो गये हैं।

अर्थात् मनुष्य शारीरिक कर्म दोषों से स्थावर योनि को (फलभोगार्थ) प्राप्त होता है, वाणी के दोषों से पक्षी और मृग होता है और मानस कर्म दोषों से अन्त्यजाति (चाण्डालादि) होता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सूत्र के च शब्द से कोई आचार्य श्रुति का भी संग्रह करते हैं और छां० उपनिषद् प्र० 6 ख० 11 कं० 2, 3 में लिखी श्रुति उद्धृत करते हैं यथा-

अस्य यदेकां शाखां जावो जहात्यथ सा शुष्यसि।
द्वितीयांजहात्यथसाशुष्यति, तृतीयां जहात्यथ साशुष्यति।
सर्वजहांतिसर्वः शुष्यत्येवमेवखलुसोम्य! विद्धीतिहोवाच ॥२॥
जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते० ॥३॥

अर्थात् जब जीव इस (वृक्षादि देह) की एक शाखा को छोड़ देता है, तब वह (शाखा) सूख जाती है, जब दूसरी (शाखा) को त्याग देता है तो वह भी खुश्क हो जाती है और जब तीसरी को भी छोड़ जाता है तो वह सूखी ठूंठ रह जाती है (यहां तक कि) जब सर्व (वृक्षादि) को (जीव) छोड़ कर निकल जाता है, तब समस्त वृक्षादि देह) सूख जाती है। हे सोम्य (श्वेतकेतो!) तू ऐसा ही जान (कि-) ॥2॥ जीव से त्यागा हुआ यह (देह) मर जाता है, जीव नहीं मरता।

महादेव वेदान्ती जी अपनी सांख्यसूत्र वृत्ति में किसी अन्य स्मृति का प्रमाण देते हैं कि-

अभिवादितश्च यो विप्र आशिषं न प्रयच्छति॥
श्मशाने जायेते वृक्षो गृध्रकङ्कनिषेवितः ॥

अर्थात् जो ब्राह्मण प्रणाम के उत्तर में (अभिमान से) आशीर्वाद न दे वह शमशानभूमिस्थ वृक्ष योनि को प्राप्त होता है, जहां गिद्ध और कौएं उस पर बैठते हैं। विज्ञानभिक्षु भाष्यकार, स्वामी हरिप्रसाद जी अपनी वैदिक वृत्ति, प० आर्यमुनि सांख्यार्य भाष्य और वा० प्रभुदयालु सांख्यानुवाद में भी मनु के श्लोक को उद्धृत करते हैं। मनुस्मृति 12।41। में यह भी लिखा है कि-स्थावर को जघन्य तामस योनि कहा है। यथा-

स्थावराःकृमिकीटाश्च। यथा-
तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादांदष्ट्रिणामपि।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ।मनु0 १२।५८॥

गुरू पत्नी गामी पुरुष सैंकड़ों बार तृण, गुल्म, लता, क्रव्याद् कीले वाले और क्रूर कर्मी देहों को प्राप्त होता है। इसमें भी स्थावर से वृक्षादि को योनि का स्वीकार है ॥ तथा-

अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुख दुःख समन्विता ॥अ0१।४९॥

अर्थात् वृक्षादि को बाह्य बुद्धि तौ नहीं होती, किन्तु आन्तरिक संज्ञा होती है जिससे ये सुख-दुःखादि भोगते हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने भी

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सत्यार्थ प्रकाश में इस मनु के श्लोक को उद्धृत करके जीव का वृक्षादि योनि को प्राप्त होना, और सुख-दुःखादि भोग माना है। वृक्षादि से फलादि लेना तो इसी प्रकार है, जैसे गवादि से दुग्धादि का ग्रहण।

तो क्या वृक्षादि को विहित कर्मानुष्ठान का भी अधिकार है? उत्तर नहीं, क्योंकि-

न देहमात्रतः कर्माधिकारिता, वैशिष्ट्यश्रुतैः ॥ १२३॥ ४५०

देह मात्र से कर्मो का अधिकारी होना नहीं हो सकता क्योंकि विशिष्टता का श्रवण है।

क्योंकि वेद की श्रुतियों में कर्माऽधिकार विशेष कर मनुष्य को दिया है और मुक्ति का अधिकारी भी मनुष्य योनि को ही ठहराया है, इसलिये देह मात्र से कर्म का अधिकारीपन नहीं हो सकता। श्रुति यह है कि-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतॐसमा।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

यजुर्वेद 40।2 तथा ईशोपनिषद्।

तुझ मनुष्य को इसी प्रकार कर्मलेप छूट सकता है कि कर्मों (विहितानु ठानों) को करता हुआ ही सौ वर्ष जीवन की इच्छा करे।

इसमें 'त्वयि' और 'नरे' शब्द स्पष्ट मनुष्य को कर्माधिकार देते हैं, और उसी को मुक्ति। तो क्या देह भी कई प्रकार के है? उत्तर-हां, सुनिये।

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोग देहोभयदेहाः
॥ १२॥ (४५१)

1. कर्मदेह 2. उपभोग देह 3. उभय देह इन तीनों की तीन प्रकार की व्यवस्था है।

यद्यपि कोई सा देह भी सामान्य कर के भोग से नहीं बच सकता, क्योंकि भोगायतन का नाम ही देह है, परन्तु इस सूत्र में जो एक उत्तर देह को केवल कर्म देह कहा है सो मुख्यत्व के अभिप्राय से है। अर्थात् चाहे सभी को कुछ न कुछ भाग होता है, परन्तु ज्ञानी (ब्रह्मज्ञानी) पुरुष कर्म करते हैं और उसके फल की लिप्सा नहीं करते, इसलिये उनका देह चाहे प्रारब्ध कर्मानुकूल फल भोगता भी है, तथापि उनको कपिल जी भोग देह वाला नहीं मानते। इस प्रकार वैराग्यादि मान् ज्ञानी पुरुषों का देह 1. कर्मदेह, इतर मनुष्यों का देह 2. उपभय देह (दोनों=कर्म और उपभोग का दह) है। 3. तीसरे इतर तिर्यग्योनि वाले पशु पक्षी

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्थावरान्त सब देह उपभोग देह हैं। इन 3 प्रकार के देहों की व्यवस्था भाष्यकार विज्ञानभिक्षु जी इस प्रकार करते हैं कि-

तत्र कर्मदेहः परमर्षीणां, भागदेह इन्द्रादीनाम्, उभय देहश्चराजर्षीणामिति। अत्र प्राधान्येन त्रिधा विभागः। अन्यथा सर्वस्यैव भोगदेहत्वापत्तेः॥

अर्थात् 1-परम ऋषियों का कर्म देह, 2-इन्द्रादि का भोग देह, 3-और राजर्षियों का उभयदेह। इसमें प्रधानता (मुख्यता के अभिप्राय) से तीन प्रकार हैं, क्योंकि वैसे (सामान्य से) तो सर्व ही को भोगदेहत्वापत्ति होगी।

परन्तु मैंने विज्ञानभिक्षु जी के मत को इसलिये ग्रहण नहीं किया कि उन के मत से तो ऋषि, देव, मनुष्यों के ही तीनों देह हो गये। वृक्षादि का तो कथन ही क्या है, उनके कथन से तो पशु-पक्षी भी देह गणना में न आए।

महादेव वेदान्ती जी की वृत्ति में वही मत है, जो मैंने अपना मत ऊपर दिखाया है। यथा-

वीतरागाणां फलन्यासेन कर्म कुर्वतां कर्मदेहः, पश्वादीनामुपभोगदेहः, भोगिनां कर्मिणामुभयदेहः ॥

अर्थात् वीतराग मनुष्यों का, जो फल-त्याग से कर्म कर रहे हैं, कर्म देह है। पशु आदि का उपभोग देह है और भोगी कर्मी अन्य मनुष्यों का उभयदेह है।

न किञ्चिदऽप्यऽनुशयिनः ॥१२५॥ (४५२)

अनुशयी का कोई भी (तीनों में से देह) नहीं।

जब जीव उक्त 3 प्रकार की देहों को त्याग कर लिंग शरीर मात्र के साथ शयन कर जाता है, अर्थात् सुषुप्ति के सी दशा को प्राप्त हो जाता है, वह प्राणी जब तक मेघमण्डलादि से आप्यायित होता हुआ किसी योनि विशेष को प्राप्त होगा, इस बीच में जो उसकी अवस्था है, उस अवस्था में वह 'अनुशयी' कहलाता है, इस अनुशयी जीव का वह लिंग देहमात्र शरीर न तो कर्मदेह है, न भोगदेह है, न उभयदेह है, कोई नहीं। उस लिंग देह में अनुशयन करता हुआ जीव न कोई कर्म करतां, न भोग भोगता और न मुक्त हो जाता है।

बुद्धि आदि तत्व जो पुरुष के आश्रय काम करते हैं, जिज्ञासु कहेगा कि वे अनित्य क्यों हैं, जबकि वे काल में एक पुरुष के आश्रय न रहे तो अन्य पुरुषों के आश्रय रहे, रहे तो सही, नष्ट तो न हुए फिर वे अनित्य क्यों हुए? उत्तर-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

नबुद्धयादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वन्हिवत् ॥ १२६॥ (४५३)

आश्रय विशेष रहने पर बुद्धयादि नित्य नहीं हो सकते, जैसे अग्नि।

जिस प्रकार एक रसोई की अग्नि बुझ जाती है, तब भी अन्य रसोई आदि स्थानों में अग्नि बनी रहती है, तो क्या जिस रसोई की आग बुझ गई, उसको नित्य कह सकेंगे? कभी नहीं। इसी प्रकार एक पुरुष की बुद्धि नष्ट होती देखकर अन्य पुरुषों के आश्रय में अन्य बुद्धि के रहने से बुद्धि की नित्यता नहीं सिद्ध होती। इसी प्रकार आदि शब्द से इन्द्रियादि की नित्यता भी नहीं बनती।

आश्रयाऽसिद्धेश्च ॥ १२७॥ (४५४)

आश्रय के सिद्ध न होने से भी ।

बुद्धि आदि का आश्रय भी वास्तव में जीव सिद्ध नहीं हो सकता। जीव (पुरुष) असंग होने से बुद्धयादि का नित्य (स्थायी) आश्रय भी नहीं है। इससे भी बुद्धयादि को नित्य नहीं कह सकते।

प्रथम सूत्र (438) में सांसिद्धिक शरीर कहा था, यदि कोई उस सांसिद्धिक शरीर की सत्ता में सन्देह करके न माने तो कपिल मुनि कहते हैं कि-

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥ १२८॥ (२५५)

योग की सिद्धियें भी औषधादि की सिद्धि के समान हैं, जो अमान्य नहीं हो सकतीं।

न भूतचैतन्यं प्रत्येकाऽदृष्टेः सांहत्येऽपि च, सहित्येऽपि च ॥ १२९॥ (४५६)

प्रत्येक भूत (पृथिवी तत्वादि महाभूत) में (चेतनता) न दिखने से संहत होने=इकट्ठा होने पर भी भूतों की चेतनता नहीं हो सकती। 'सांहत्येऽपि च' यह पुनः पाठ अध्यायसमाप्ति सूचनार्थ है।

इस प्रकार अपने सिद्धान्तों की दृढता और अन्य जिज्ञासु या प्रतिवादियों के मत को निराकरण करते हुए यह पंचमाऽध्याय समाप्त हुआ।

■■■

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अथ षष्ठोऽध्यायः

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अस्त्यात्मा, नास्तित्वसाधनाऽभावात् ॥ १॥ (४५७)

न होने के साधन न होने से, आत्मा है।

'आत्मा नहीं है' इस बात में कोई सिद्ध करने के साधन नहीं हैं, इसलिये मानना पड़ेगा कि 'आत्मा है' ॥1॥ यदि कहो कि आत्मा है तो, परन्तु देहादि ही आत्मा है, अन्य नहीं तो उत्तर–

देदादिव्यतिरिक्तोऽसौवैचित्र्यात् ॥ २॥ (४५८)

वह (आत्मा) विचित्र होने से, देहादि से भिन्न (वस्तु) है।

देह इन्द्रियां, मन इत्यादि संघात जड़ हैं, आत्मा इससे विचित्र चेतन है इसलिये देहादि का ही नामान्तर 'आत्मा' नहीं है, किन्तु इससे भिन्न आत्मा विचित्र है।

षष्ठीव्यपदेशादऽपि ॥ ३। (४५९)

षष्ठी (विभक्ति) के व्यपदेश से भी (आत्मा देहादि से भिन्न सिद्ध) है।

संस्कृत की षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'का , के, की' होता है। उदाहरण देवदत्त का शिर, यज्ञदत्त के हाथ, विष्णु मित्र की जंघा इत्यादि। इससे पाया जाता है कि देवदत्त और शिर एक ही होते तो 'देवदत्त का शिर' यह षष्ठी (का) न प्रयोग में आती। आती है, इससे पाया जाता है कि सिर, हाथ जंघा आदि से देवदत्त यज्ञदत्तादि संज्ञा वाले आत्मा भिन्न हैं। जैसे 'देवदत्त का घोड़ा' कहने से देवदत्त और घोड़ा एक नहीं हो सकते। इसी प्रकार देवदत्त का शिर, हाथ, पांव कहने से देवदत्त ही शिर, हाथ, पांव नहीं हो सकते। इससे पाया जाता है कि आत्मा ही देहादिसंज्ञक नहीं हैं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

न्याय दर्शन अध्याय 3 के आरम्भ ही में विस्तार से आत्मा का देहादिव्यतिरिक्त होना वर्णन किया है वह भी पाठकों के विनोदार्थ तथा विषय की पुष्टयर्थ नीचे लिखते हैं-

'प्रमेयों में पहला और मुख्य आत्मा है, इसलिये प्रथम आत्मा की ही विवेचना की गई है। क्या देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वेदना के संघात का ही नाम आत्मा है या आत्मा इस से कोई भिन्न पदार्थ है? पहिले सूत्र में इन्द्रिय चैतन्यवादियों के मत का निराकरण किया है-

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥!॥

उ०-दर्शन और स्पर्शन से एक ही अर्थ का ग्रहण होने से (आत्मा) देहादि से (भिन्न) है। जिस विषय को हम आंख से देखते हैं, उसी को त्वचा से स्पर्श भी करते हैं। नींबू को देखकर रसना में पानी भर आता है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता था, क्योंकि 'अन्यदृष्टमन्यो न स्मरति' देवदत्त के देखे हुये अर्थ का यज्ञदत्त को भी स्मरण नहीं होता। फिर आंख के देखे हुए विषय का जिह्वा से या त्वचा से क्यों अनुभव किया जाता है? जो कि हम बिना किसी सन्देह के एक इन्द्रिय के अर्थ को दूसरे इन्द्रिय से ग्रहण करते हैं, इससे सिद्ध है कि उस अर्थ को दूसरे इन्द्रिय से ग्रहण करते हैं इससे सिद्ध है किन्तु इनके अतिरिक्त ग्रहीता कोई और है जो इनके द्वारा एककर्तृक अनेक प्रत्यायों को ग्रहण करता है और वही चेतन आत्मा है। अब इस पर शंका करते हैं-

न, विषयव्यवस्थानात् ॥ २॥

पूर्वपक्ष उक्त कथन ठीक नहीं है, विषयों की व्यवस्था होने से देहादि संघात के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, विषयों की व्यवस्था होने से। इन्द्रियों के विषय नियत हैं, आंख के होने पर रूप का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं होता और यह नियम है कि जो जिस के होने पर होता और न होने पर नहीं होता, वह उसी का समझा जाता है। इसलिये रूप ज्ञान नेत्र का है क्योंकि वही उस को देखता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय भी अपने-अपने अर्थज्ञान में स्वतन्त्र हैं। जब इन्द्रियों के होने से ही विषयों को उपलब्धि होती है, तब उन से भिन्न अन्य किसी चेतन की कल्पना क्यों की जाए? अब इसका समाधान करते हैं-

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥ ३॥

उ०-उक्त विषयव्यवस्था से ही आत्मा की सिद्धि होने से निषेध नहीं हो सकता। इन्द्रियों के विषयों की व्यवस्था होने से ही (उनसे भिन्न चेतन) आत्मा

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

की सत्ता माननी पड़ती है। यदि इन्द्रियों के विषय नियत न होते अर्थात् एक इन्द्रिय से दूसरे इन्द्रिय के विषय का भी ग्रहण हो सकता, तब तो उनमें स्वतन्त्रता की कल्पना की जा सकती थी। परन्तु जिस दिशा में कि उनके विषय नियत हैं अर्थात् आंख से रूप का ही ग्रहण होता है न कि गन्धादि अन्य विषयों का। इससे यह सिद्ध होता है कि सब विषयों का ज्ञाता चेतन आत्मा जो इंद्रियों से अपने विषयों को ही ग्रहण कराता है, उनसे भिन्न है। इन्द्रियचैतन्यवादियों के मत का खण्डन करके, अब देहात्मवादियों के मत का खण्डन करते हैं-

शरीरदाहे पातकाभवात् ॥४॥

उ०-शरीर को जलाने में पाप न होने से (आत्मा शरीर से पृथक है)। यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है तो मृत शरीर को जलाने में पाप होना चाहिए, परन्तु सजीव शरीर को जलाने से होता है, न कि मृत शरीर को। अब इस पर शंका करते हैं-

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽषि तन्नित्यत्वात् ॥५॥

प्र०-उस (आत्मा) के नित्य होने से सजीव शरीर के जलाने में भी पाप न होना चाहिये। सजीव शरीर के जलाने में भी पाप का अभाव होना चाहिये, आत्मा के नित्य होने से क्योंकि जो देह से भिन्न आत्मा को मानते हैं, वे उसको नित्य मानते हैं। यथा-' न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे'। अर्थात् आत्मा न कभी उत्पन्न होता और न मरता है, न कभी उत्पन्न हुआ न होगा, न मरा, न मरेगा, वह अजर, नित्य सनातन और पुराण है, शरीर के नाश होने पर उसका नाश नहीं होता तथा आगे चल कर उसी गीता में कहा है- नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनंदहति पावकः। न चैनंक्लेदयन्त्यापो न शोषयतिमारुतः'। अर्थात् आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकती, जल गला नहीं सकते और न पवन सुखा सकता है। जब ऐसा है तो फिर आत्मा सहित शरीर के जलाने में कुछ भी पाप नहीं होना चाहिये क्योंकि नित्य आत्मा की कोई हिंसा नहीं कर सकता? यदि कहा कि हिंसा होती है, तो आत्मा का नित्यत्व न रहेगा। इस प्रकार पहले पक्ष में हिंसा निष्फल होती है और दूसरे पक्ष में उपत्ति नहीं होती। अब इस पर समाधान करते हैं-

न, कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥६॥

उ०-शरीर और इन्द्रियों के उपघात होने से (पूर्व पक्ष) ठीक नहीं, इस सूत्र में गौतम मुनि अपना अन्तिम सिद्धान्त कहते हैं। हम नित्य आत्मा के वध को

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

हिंसा नहीं कहते, किन्तु कार्याश्रय, शरीर और विषयोपलब्धि के कारण इंद्रियों के उपघात (जिससे) आत्मा में विकलता उत्पन्न होती है को हिंसा कहते हैं। सुख दुःख कार्य हैं, उनका ज्ञान शरीर के द्वारा किया जाता है इसलिये वह कार्याश्रय कहलाता है और इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण किया जाता है इसलिये उनमें कर्तृत्व का व्यपदेश किया है। तो बस शरीर और इन्द्रियों के प्रबन्ध का जो उच्छेद करना है इसी का नाम हिंसा है, इसलिये हमारे मत में उक्त दोष नहीं आता। अब आत्मा के देहादि संघात से भिन्न होने से दूसरा हेतु देते हैं-

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७॥

उ०-बांई (आंख) से देखी हुई वस्तु का दाहिनी (आंख) से प्रत्यभिज्ञान होने से (आत्मा देहादि से पृथक है) पूर्वापर ज्ञान के मेल को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे -यह वही यज्ञदत्त है, जिसको मैंने वाराणसी में देखा था। बांई आंख से देखी हुई वस्तु की जो दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञा होती है, इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो बांई आंख से देखी हुई वस्तु को दाई आंख कभी नहीं पहचान सकती थी जैसे देवदत्त के देखे हुए को यज्ञदत्त नहीं जान सकता। इस पर आक्षेप करते हैं-

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ८॥

प्र० नाक की हड्डी का आवरण होने से एक में दो का अभिमान होने से (ये कथन) युक्त नहीं है। वास्तव में चक्षु इन्द्रिय एक ही है, नाक की हड्डी के बीच में आ जाने से लोगों को दो की भ्रान्ति हो रही है। जैसे किसी तडाग में पुल बांध देने से दो तडाग नहीं हो जाते, ऐसे ही एक मस्तक में नाक का व्यवधान होने से आंख दो वस्तु नहीं हो सकती। अतएव प्रत्यभिज्ञा कैसी? अब इस साक्षेप पर समाधान करते हैं-

एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९॥

उ०-एक के नाश होने पर दूसरी का नाश न होने से एकता नहीं हो सकती। यदि चक्षु इन्द्रिय एक ही होता तो एक आंख के नष्ट होने पर दूसरी भी नहीं रहती, परन्तु यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक आंख के फूट जाने पर दूसरी शेष रहती है और उससे आंख का काम लिया जाता है। इस लिये चक्षु एक नहीं ॥ पुनः पूर्व पक्षी इस पर आक्षेप करता हैं-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १०॥

प्र०-उक्त हेतु ठीक नहीं है क्योंकि अवयव के नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि देखने में आती है। जैसे वृक्ष की किन्हीं शाखाओं के कट जाने पर भी वृक्ष की उपलब्धि होती है, ऐसे ही अवयव रूप एक चक्षु के विनाश होने पर भी दूसरे चक्षु में अवयवी की उपलब्धि शेष रहती है। इसलिये चक्षुद्वैत मानना ठीक नहीं। अब सिद्धान्त सूत्र के द्वारा समाधान करते हैं-

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११॥

उ०-दृष्टान्त के विरोध से निषेध नहीं हो सकता। दृष्टान्त के विरोध से चक्षुद्वैत का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे शाखाएं वृक्ष रूप अवयवी का अवयव हैं, तद्वत् एक चक्षु दूसरे चक्षु का अवयव नहीं अर्थात् वे दोनों ही अवयव हैं। अवयवी उनका कोई और है। अतः दृष्टान्त में विरोध आने से निषेध युक्त नहीं। अथवा दृश्यमान अर्थ के विरोध को दृष्टान्त विरोध कहते हैं। मृत मनुष्य के कपाल में नासास्थि का व्यवधान होने पर भी दो छिद्र भिन्न-भिन्न रूप से स्पष्ट दीख पड़ते हैं। यों तो हृदय का व्यवधान होने से दोनों हाथों को भी कोई एक कह सकता है, परन्तु यह दृश्यमान अर्थ का साक्षद्विरोध है। इसलिये चक्षुरैक्य मानना ठीक नहीं और जब चक्षु दो सिद्ध हो गये तब एक देखे हुए अर्थ की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा होना यह सिद्ध करता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है और वही चेतन आत्मा है। फिर इसी की पुष्टि करते हैं-

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२॥

उ०-(किसी इन्द्रिय से उसके विषय को ग्रहण करने पर) अन्य इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होने से (आत्मा देहादि से पृथक)। किसी अम्ल द्रव्य को चक्षु से देखने अथवा घ्राण से उसका गन्ध ग्रहण करने पर रसना में विकार उत्पन्न होता है, अर्थात् मुंह में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियों को ही चेतन माना जाए तो यह बात हो नहीं हो सकती कि अन्य के देखे को कोई अन्य स्मरण करे। इस लिये इन्द्रियों से पृथक कोई आत्मा है। अब इस पर शंका करते हैं-

न, स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३॥

प्र०-स्मृति के स्मर्त्तव्यविषयिणी होने से (पृथक् आत्मा के मानने की आवश्यकता) नहीं। स्मरणयोग्य विषयों का अनुभव करना स्मृति का धर्म है, वह स्मृति स्मर्त्तव्य विषयों के योग से उत्पन्न होती है, उसी से इन्द्रियान्तर विकार उत्पन होते हैं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जिस मनुष्य ने एक बार नींबू के रस को चखा है दूसरी बार उसको स्मरण करने से उसके मुंह में पानी भर आता है सो यह स्मृति का धर्म है, न कि आत्मा का। अब इसका समाधान करते हैं-

तदात्मगुण सद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४॥

उ०-उसके आत्म गुण होने से (आत्ला का) निषेध नहीं हो सकता। स्मृति कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु वह आत्मा का एक गुण है, इसलिये उक्त आक्षेप युक्त नहीं है। जब स्मृति आत्मा का गुण है तभी तो अन्य के देखे का, अन्य को स्मरण नहीं होता। यदि इन्द्रियों को चेतन मानोगे तो अनेक कर्त्ता होने से विषयों का प्रतिसन्धान न हो सकेगा, जिससे विषयों की कोई व्यवस्था न रहेगी अर्थात् कोई देखेगा, और कोई स्मरण करेगा और यह हो नहीं सकता। यह व्यवस्था तो तभी ठीक रह सकती है जब कि अनेक अर्थों का एक द्रष्टा भिन्न-भिन्न निमित्तों के योग से पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण करता हुआ इन्द्रियान्तर विकारों को उत्पन्न करता है, ऐसा माना जायेगा। क्योंकि अनेक विषयों के द्रष्टा को ही दर्शन के प्रतिसन्धान से स्मृति का होना सिद्ध हो सकता है, अन्यथा बिना आधार के स्मृति किस में रहे? इसके अतिरिक्त 'मैं स्मरण करता हूं' यह प्रत्यय (जो बिना किसी भेद के प्रत्येक मनुष्य को होता है) भी स्मृति का आत्म गुण होना सिद्ध करता है। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं-

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५॥

उ०-स्मृति विषय का परिगणन न करने से भी (यह शंका उत्पन्न हुई है)। स्मृति विषय के विस्तार और तत्व पर ध्यान न देकर प्रतिवादी ने यह आक्षेप किया है कि स्मर्त्तव्य विषयों को स्मरण करना स्मृति का काम है' वास्तव में स्मृति का विषय बड़ा लम्बा और गहरा है। 'मैंने इस अर्थ को जाना, मुझसे यह अर्थ जाना गया, इस विषय में मुझ से जाना गया, इस विषय का मुझ को ज्ञान हुआ! यह जो चार प्रकार का परोक्ष ज्ञान है, यही स्मृति का मूल है, इसमें सर्वत्र ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की उपलब्धि होती है। अब प्रत्यक्ष अर्थ में जो स्मृति होती है, उससे तीन प्रकार के ज्ञान एक ही अर्थ में उत्पन्न होते हैं। उदाहरण- 'जिसको मैंने पहले देखा था, उसी को अब देख रहा हूं' इसमें दर्शन, ज्ञान और प्रत्यय ये तीनों संयुक्त हैं। सो यह एक अर्थ तीन प्रकार के ज्ञानों से युक्त हुआ न तो अकर्तृक है और न नानाकर्तृक, किन्तु एक कर्तृक है, क्योंकि एक ही सब विषयों का ज्ञाता अपने सम्पूर्ण ज्ञानों का प्रतिसंधान करती है। 'इस अर्थ को जानूंगा,

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

इसको जानता हूं, इसे जाना और अमुक अर्थ की जिज्ञासा करते हुए बहुत काल तक न जांनकर फिर मैंने जाना, इत्यादि ज्ञानों का निश्चय करता है। यदि इसको केवल संस्कारों का फैलाव मात्र ही माना जाए तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रथम तो संस्कार उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त कोई संस्कार ऐसा नहीं है, जो तीनों कालों के ज्ञान और स्मृति का अनुभव कर सके। बिना अनुभव के 'मैं और मेरा' यह ज्ञान और स्मृति का प्रतिसंधान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस से अनुमान किया जाता है कि एक सब विषयों का ज्ञाता 'आत्मा' प्रत्येक देह में अपने ज्ञान और स्मृति के प्रबन्ध को फैलाता है, देहान्तर में उस की प्राति न होने से उसके ज्ञान और स्मृति का प्रतिसंधान हो नहीं सकता।

न शिलापुत्रबद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥४॥ (४६०)

धर्मी के ग्राहक प्रमाण की बाधा से शिलापुत्र के समान (षष्ठी व्यपदेश) नहीं हो सकता।

जैसे 'शिलापुत्र का सिर' इसमें शिला पुत्र और उसके सिर में अवयवाऽवयवीभाव सम्बन्ध को लेकर षष्ठी विभक्ति का व्यपदेश है, वैसे 'मेरा शरीर' इस वाक्य में षष्ठी का व्यपदेश नहीं हो सकता। क्योंकि शिलापुत्र (पत्थर के बने पुत्र=बच्चे) के धर्मी होने का कोई प्रमाण नहीं, परन्तु पुरुष के धर्मी होने में अनुमान और शब्द प्रमाण पाये जाते हैं। इसलिये पुरुष और देह के बीच की षष्ठी विभक्ति वैसी नहीं हो सकती, जैसी कि शिलापुत्र की षष्ठी हाती है। यदि कहो कि पुरुष देहादि से भिन्न ही सही, परन्तु उसको कृतकृत्यता कैसे होगी? तो उत्तर-

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥५॥ (४६१)

दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति से कृतकृत्यता (मोक्ष) है ॥5॥

यदि कहो कि क्या दुःखों की निवृत्ति से ही मोक्ष हो जायेगा, सुखों की प्राप्ति न होगी? तो उत्तर-

यथा दुखात् क्लेशः पुरुषस्य, न तथा सुखादभिलाषः ॥६॥ (४६२)

पुरुष को जैसा दुःख से क्लेश होता है, वैसे सुख से अभिलाषा नहीं होती। यद्यपि पुरुष दुःख से बचना और सुख को पाना चाहता है तो भी दुख से बचने की जितनी और जैसी उत्कट कामना पुरुष को होती है, वैसी प्रक्ल उत्कट या तीव्र कामना सुखों की नहीं होती। सुख शब्द से यहां इन्द्रियों के काम्य भागों का ग्रहण है। क्योंकि विवेकी पुरुष इन्द्रियों से सुख की क्षणभंगुरता, असारता और

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अन्त में दुःखदायिता को समझ लेता है, इसलिये उस को उन (सुखों) का अभिलाषा वैसा तीव्र नहीं होता, जैसा कि दुःखों का क्लेश समझ पड़ता है।

यदि कहो कि विवेकी पुरुष जब सुख को सुख नहीं समझता तो विवेक ही क्या हुआ? तो उत्तर–

कुत्राऽपि कोऽपि सुखीति ॥ ७॥ (४६३)

कहीं कोई ही सुखी होगा।

प्रथम तो विवेकी यह देखना है कि कहीं कोई ही सुखी होगा, नहीं तो बराबर यही देखा जाता है कि किसी को कोई दुःख है, किसी को कोई। सुखी तो कोई विरला ही कहीं होगा। इसके अतिरिक्त–

तदापि दुःलशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ८॥ (४६४)

वह भी दुःख से सना (युक्त) है, इसलिये विवेकीजन उस को भी दुःखपक्ष में फैकते हैं।

जो कुछ किसी को थोड़ा बहुत कहीं कहीं सुख है, वह भी निरा सुख नहीं, किन्तु दुःखमिश्रित है, इस कारण विवेकी लोग उस सुख को भी दुःख में ही गिनते हैं।

योगदर्शन पाद 2 सूत्र 15 में भी इसी विषय को पुष्ट किया गया है। पाठकों के विनोदार्थ यहां उद्धृत करते हैं यथा–

'परिणामतापसंस्कारदुखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥ (६६)'

विवकी को तो परिणाम दुख ताप दुःख और संस्कार दुःख से तथा गुणवृत्तियों के (परस्पर) विरोध से सब दुःख ही है।

विवेकी जो सुख और दुःख को विचारदृष्टि से देखता है, उस को दुःख तो दुःख हैं ही, पर जो अन्य अविवेकियों को सुख जान पड़ते हैं, वे भी उसको दुःख ही जान पड़ते हैं। जैसे मकड़ी का नर्म=कोमल जाला छूने में हाथ को कैसा सुखस्पर्ष मुलायम् अच्छा जान पड़ता है, पर वही कोमल जाला आंख में गिर जाए तो आंख को खुरदुरा दुःखदायक और दुःखस्पर्श जान पड़ता है। नित्य सूख (चने चबाने वाले को कभी दाल रोटी मिल जाए तो बड़ी स्वाद जान पड़ती है, चाहे कितनी ही मोटी हो, परन्तु नित्य बारीक रोटी (फुलके) खाने वाले के हलक में वे भी प्राय: चुभते हैं। वैसे ही योगी, जो अन्य साधारणों से अत्यन्त सुकुमार

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

(नाजुक) हो जाता है, वे भोग जो अन्य गंवारों को सुख जान पड़ते हैं, उस सुकुमार योगी को दुःख ही जान पड़ते हैं। अतः उन सुखों में भी एक तो परिणाम दुःख है। क्योंकि जितने पदार्थ संसार में सुखदायक हैं, सब परिणामी हैं, जो वर्त्तमान क्षण से अगले क्षण में वैसे न रहेंगे। कल्पना कीजिये कि हमको निर्मल वस्त्र पहरने में सुख होता है, परन्तु वस्त्र हर एक क्षण में कुछ मैला हो जाता है। क्योंकि वस्त्र की निर्मलता परिणामिनी (बदलने वाली) है। किसी एक सुरूपी युवती स्त्री के दर्शन स्पर्शन में सुख जान पड़ती है, परन्तु वृद्धा के में नहीं पर युवाऽवस्था भी परिणामिनी है, जो क्षण-क्षण में बुढ़ापे से बदलती है, बुढ़ापा दुख है तो इस बुढ़ापे के परिणाम को जानने वाला कब युवावस्था में सुख मानेगा? यही अन्य सब पुण्यार्जित सुख भोगों की दुर्दशा है, इसलिये विवेकी पुरुष इसे दुःख ही समझता है।

दूसरा ताप दुःख जो प्रत्येक सांसारिक सुख में मिला रहता है, क्योंकि सुख भोगते समय मनुष्य चाहता है कि यह मेरा सुख कभी भी विच्छिन्न (अलग) न हो ऐसा सोच कर उस सुख के बाधक साधनों से द्वेष करता है। द्वेष से चित्त को सन्ताप होता है, सन्ताप स्वयं दुःख रूप है। इसलिये ताप दुःख के लगे रहने से भी विवेकी को सब दुःख ही जान पड़ता है।

तीसरा संस्कार दुःख क्योंकि सुख भोगने से सुख का संस्कार रहता है। संस्कार से उसकी याद से उसमें राग (फंसना), राग से मन, वचन देह की प्रवृत्ति उस से कर्माशय और उस से दुःख का अनुभव उससे फिर संस्कार फिर याद, फिर राग, फिर प्रवृत्ति, फिर कर्माशय और फिर दुःख। इस प्रकार संस्कार चक्र के लौट-लौट से विवेकी को सब दुख ही प्रतीत होता है।

इन परिणाम ताप और संस्कार दुःखों के अतिरिक्त, गुणों की वृत्तियों के परस्पर विरोध से भी विवेकी को सब दुःख ही भान होता है। क्योंकि सत्व, रज, तम, तीनों गुण एक दूसरे से कुछ विरोध ही रखते हैं और सत्व या रज या तम, इन में से किसी एक की प्रबलता से जब सुख जान पड़ता है, तब भी अन्य विरोधी गुणों की वृत्तियां अपना दबाव डालती रहती हैं तो इस युद्ध (कशमकश) में सुख कहा? सत्व गुण शान्ति फैलाता है, तो राजस संग्राम अपनी घटा उठाते हैं और तामस मूढ़ता अपना बल उमड़ता है। माना कि गुणों में से किसी को यत्नपूर्वक निर्बल किया जा सके, परन्तु तीनों में से किसी एक का भी जब तक संसार है, सर्वथा नाश सम्भव नहीं अतएव सब संसार चाहे किसी को कितना ही सुखमय ज़ान पड़े, पर विवेकी को निर दुःखमय अनुभूत होता है। इसलिये क्लेशमूलक कर्माशय को त्यागना इष्ट है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तथ न्याय दर्शन अध्याय 1 आन्हिक 1 सूत्र 21 में दुःख का लक्षण ' बाधनालक्षणं दुःखम्' करके अध्याय 4 आन्हिक 1 सूत्र 55 में कहा है कि जन्म धारण करना ही दुख है । यथा–

'विविधवाधवनायोगाद्दुःखमेव जन्मोतपत्तिः' अनेक प्रकार की बाधनाओं के योग से जन्मोत्पत्ति दुःख ही है। चाहे संसार में जन्म लेकर कितने ही प्रकार के सुख भी देखे जाते हैं परन्तु वे सुख-दुःख से रहित नहीं, किन्तु अनेक बाधाओं से युक्त हैं, अतः एवं विवेकी की दृष्टि में सब दुःख ही है। इसी प्रकार गीता में कहा है यथा–

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते वुधः' ॥५॥ २२॥

हे अर्जुन! जो विषयों के स्पर्श से उत्पन्न होग (सुख) हैं, वे आदि अन्त वाले और दुःख मूल ही हैं। इस कारण विवेकी उन में नहीं रमता।

सुखलाभाऽभावादऽपुरुषार्थत्वमिति चेन्न, द्वैविध्यात् ॥ ९॥ (४६५)

यदि (कहो कि) सुख लाभ के अभाव से (मुक्ति में) पुरुषार्थता नहीं सो नहीं, क्योंकि (सुख) दो प्रकार का है।

यदि कहो कि पूर्वसूत्रानुसार सब सुख भी दुःख ही हैं तो कहना पड़ेगा कि मुक्ति में भी सुख नहीं, यदि मुक्ति में सुख माने और सुख समस्त ही दुःख रूप हुए तो विवेकी की दृष्टि में मुक्ति में भी दुःख हुआ और यदि कहो कि केवल दुःख निवृत्ति ही मुक्ति में होती है, कोई सुख नहीं होता, तो मुक्ति को 'पुरुषार्थता' न रहेगी क्योंकि पुरुष को उस में कोई लाभ तो हुआ ही नहीं।

उत्तर-सुख दो प्रकार के हैं 1. सांसारिक विषयोभोगों के सुख। 2. ब्रह्मानन्द का सुख। इन दोनों में से इन्द्रियोपभोग्य सांसारिक सुख तो वस्तुगत्या दुःख रूप ही हैं, परन्तु ब्रह्मानन्द का सुख इन्द्रियोपभोग्य नहीं, दुःख मिश्रित नहीं, वह केवल आनन्द है, अतएव उसको अपुरुषार्थ नहीं कह सकते। सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता- तैत्तिरीयोपनिषद् ब्र०व० अनु०1 तथा आनन्द ब्राह्मणों विद्वान' अनु० 9 इत्यादि प्रमाणों से मुक्ति में ब्रह्मानन्द का पाना सिद्ध है, न कि केवल दुःख निवृत्ति ही मुक्ति है। यदि कहो कि तब सांख्याचार्य ने 'त्रिविधदुःखातयन्तनि०' सूत्र 1 में केवल दुःख निवृत्ति का नाम मोक्ष या परमपुरुषार्थ क्यों रखा और न्यायाचार्य गौतम जी ने 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' 1।1।22। में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का नाम मोक्ष या अपवर्ग क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि दुःखों के

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निवारणार्थ ही परमपुरुषार्थ कर्त्तव्य है। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये कोई पुरुषार्थ करना नहीं पड़ता, वह तो आप ही आप मिलता है। जैसे श्वास के साथ अपने आप ही वायु प्राप्त होती है। जिस प्रकार अन्न को चबाते, जल को निगलते हैं, यत्न करते हैं, इस प्रकार ब्रह्मानन्द के लाभार्थ यत्न नहीं करना पड़ता, किन्तु जहां त्रिविध दुःख अत्यन्त निवृत्त हुए, तत्काल ब्रह्मानन्द अयत्नलब्ध होने लगता है। इस कारण मोक्ष के लक्षण में इस की विवक्षा नहीं थी। शंका-

निर्गुणत्त्वमात्मनोऽसङ्गत्वादिश्रुतेः ॥ १०॥ (४६६)

असंगत्वादि श्रुति से आत्मा का (तौ) निगुणत्त्व है?

'असंगोह्ययं पुरुषः' वृहदारण्यक अ० 5 ब्रा० 3-15 इत्यादि श्रुतियों से आत्मा या पुरुष असंग सिद्ध है। असंग में कोई गुण नहीं होता, निर्गुण में दुःख स्वतः नहीं फिर दुःख निवृत्ति का यत्न व्यर्थ क्यों नहीं? उत्तर-

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥ ११॥ (४६७)

परधर्म होने पर भी अविवेक से उस (दुःख) की सिद्धि है।

यद्यपि सुख, दुःखादि पराये (बुद्धि के) धर्म हैं, पुरुष के नहीं, पुरुष असंग निर्गुण है, तथापि अविवेक। प्रकृति, पुरुष में विवेकाऽभाव से पुरुष में सुख-दुःख आदि आरोपित हो जाते हैं, उन्हीं की निवृत्ति जो विवेक से होती है उस का यत्न करना पुरुषार्थ है । इस विषय में अनेक वाक्य ऐसे भी पाये जाते हैं, जो आत्मा के गुणों का कथन करते हैं। यथा-1=दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूयाशुचिरनायासो माङ्गल्यमकार्पण्यमास्पृहाचेत्यऽष्टावात्मगुणाः' गीता 2।1। पर शंकरानन्द। इसमें दया, क्षमा, अनुसूया, शौच, अनायास, माङ्गल्य, अकार्पण्य, अस्पृहा ये 8 आत्मा के गुण कहे हैं।

२-'बहुश्रुतं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसंपदः'॥

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय 155। इस में भी बहुश्रुतत्व, तप, त्याग श्रद्धा, यज्ञ करना, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम को आत्मा की संपदा कहा है।। तथा-

३-'प्राणाऽपाननिमेपोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर विकाराः सुखदुःखेच्छा द्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि'॥

वैशेषिक ३।२।४

इसमें भी प्राण अपान इत्यादि आत्मा के चिह्न बताये गये हैं। और-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

४-''इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिंगम्'' ॥ न्यायद० १।१।१०
इच्छा द्वेषादि आत्मा के चिन्ह वर्णित हैं ॥ अथ च

५- 'ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्या:' न्याय ३।२।३६।

६- 'स्मरणे त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्' ॥३।१।४३॥

इन सूत्रों में भी इच्छा, द्वेष, स्मरण को आत्मा के धर्म कहा है।

उत्तर- जहां 2 आत्मा के गुण स्वभाव चिह्न आदि कहे हैं वे ज्ञान वा चैतन्य को छोड़कर अन्य सब गुण अन्त:करणऽवच्छिन्न आत्मा के हैं, केवल के नहीं। प्राण, अपान, मनोगति इन्द्रियान्तर विकार, तप, त्याग, यज्ञक्रिया, निमेष, उन्मेष इत्यादि धर्म तो प्रत्यक्ष ही सब जानते हैं कि मन इन्द्रियां और देह के साथ से हैं, शेष सत्य, क्षमा, दया आदि भी प्रकृति के सम्बन्ध से हैं, केवल आत्मा के नहीं। जबकि प्रकृति के बिना केवल पुरुष (परमात्मा) में भी जगदुत्पादनादि नहीं घट सकते, तब बेचारे जीव में प्राकृत मन आदि के बिना उक्त गुण या चिह्न कहां रह सकते हैं? पृथिव्यादि के गन्धादि गुणों को छोड़कर आत्मा की चेतन मात्र सत्ता में उक्त गुण सम्भव नहीं । इसी कारण श्रुत्यादि आत्मा के नैर्गुण्य को प्रकट करती हैं तथा असंगता प्रतिपादन करती है। इस प्रकार इन सूत्रों में यह कहा गया है कि स्वरूप से ही आत्मा के निर्गुण होने और असंग होने से सुख-दु:ख का लेप अपने आप ही नहीं तथापि उनकी निवृत्ति का उपाय (विवेक) आवश्यक है।

यदि कहो कि पुरुष में अविवेक कहां से, कब से और क्यों आया? तो उत्तर-

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्ते: ॥१२॥ (४३८)

अविवेक अनादि है, नहीं तो दोष आएंगे।

यदि विवेक को अनादि न माना जाए तो दोष आएगें-

1-यह कि अविवेक की उत्पत्ति मानें तो अविवेकोत्पत्ति का कारण अन्य कुछ, उसका अन्य कुछ इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।

2- यह कि यदि अकारण ही अविवेक हो जाता है तो मुक्त पुरुष को भी अकस्मात् अविवेक हो कर बन्ध दोष आएगा। अकस्मात् यह ठीक है कि अविवेक जीव की अल्पज्ञाता से उन में अनादि है।

न नित्य: स्यादात्मवदऽन्यथाऽनुच्छित्ति: ॥ १३॥ (४६९)

(अनादि भी अविवेक) नित्य नहीं है, अन्यथा आत्मा के समान उस का उच्छेद (नाश) न होगा।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अविवेक अनादि है सही, परन्तु नित्य नहीं है। यदि आत्मा की नित्यता के समान अविवेक भी नित्य (अविनाशी) होता तो जैसे नित्य आत्मा का नाश नहीं, इसी प्रकार नित्य अविवेक का नाश न होता। अविवेक का नाश न होता तो मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति होती है, अविवेक का नाश भी होता है, अतः उसको नित्य नहीं कह सकते।

यदि कहो कि इस अविवेक के नाश का कारण क्या है? तो उत्तर-

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥ १४॥ (४७०)

इस अविवेक नाश का प्रति नियत कारण (विवेक) है, जैसे अन्धकार (के नाश का कारण प्रकाश)॥

अविवेक के नाश का नियत काराण उसका प्रतिद्वन्द्वी विवेक है, जिस प्रकार अन्धकार के नाश का प्रतिद्वन्द्वी कारण प्रकाश है।

अत्राऽपि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥ १५॥ (४७१)

इसमें भी अन्वयव्यतिरेक से प्रतिनियम है।

जिस प्रकार अन्वयव्यतिरेक (एक में दूसरे के न समाने) से अन्धकार के साथ प्रकाश का प्रतिनियम (विरोध का नियम) है, इसी प्रकार अविवेक के साथ विवेक का विरोध नियम है।

प्रकारान्तराऽसंभवादविवेक एव बन्धः ॥ १६॥ (४७२)

अन्य प्रकार सम्भव न होने से अविवेक ही बन्ध है।

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥ १७॥ (४७३)

मुक्त को फिर बन्ध का योग नहीं, क्योंकि अनावृत्ति सुनते हैं।

अनावृत्ति का अर्थ सापेक्ष है। जिस प्रकार अन्य जीव जन्म-मरण को प्राप्त हैं, इसी प्रकार शीघ्र मुक्त पुरुष बन्ध को प्राप्त नहीं होता। इस पर विशेष विचार यह है। पूर्व पक्ष-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे १ मुण्ड०। यदापश्यः पश्यतेरुक्म वर्णकर्तारमीशंपुरुषब्रह्मयोनिम्। तदाविद्वान्पुण्यपापेविधूय निरजनः परमं साम्यभुपैति ।२। तरति शोकं तरति पाप्मान गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतोभवति मुण्ड०।३। एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोको ऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ।४। नजरानमृत्युनेशोको नसुकृतंन दुष्कृतं सर्वेपाप्मानोऽतो निवर्तन्ते ।।छां०।। अपहतपाप्माभयं रूपम् ।।वृहदारण्यके।।५।। ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।६।। ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः ।।श्वेताश्वतरे ।।७।।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

परमात्मा के साक्षात् होने पर हृदय की ग्रन्थि भिन्न, सर्व संशय छिन्न और कर्म क्षीण हो जाते हैं ।।1।। जब जो पुरुष ज्योतिः स्वरूप, जगतकर्त्ता, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, जगन्निमित्तिकारण ब्रह्म को साक्षात् करता है, तब वह विद्वान पुरुष अविद्या रहित, पुण्य पापों से छूट कर अत्यन्त समाता को प्राप्त हो जाता है ।।2।। अमृत पुरुष शोक और पाप तथा हृदय की ग्रन्थियों से छूट जाता है।।3।। यह ।। मुत्तात्मा पाप, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, भूख, प्यास से रहित हो जाता है और सत्यकाम, सत्यसंकल्प हो जाता है ।।4।। मुक्तात्मा को न बुढ़ापा, न मृत्यु, प शोक, न पुण्य, ताप होते हैं। सब पाप उससे पृथक हो जाते हैं, वह पाप रहित अभय स्वरूप को प्राप्त हो जाता है ।।5।। परमात्मा को जानकर सब बन्धनों से छूट जाता है ।।6।। परमात्मा को जान कर सम्पूर्ण बन्धन दूर हो जाते हैं ।।7।। फिर बन्ध क्यों?

उत्तर- प्रथम तो इन प्रमाणों में 1, 2, 3, 4, 5 केवल इन संख्याओं में ही पापों या पाप-पुण्य दोनों से पृथक् होना लिखा है। शेष दो प्रमाणों में पाप-पुण्यों से पृथक होने पर वर्णन भी वही है, दूसरी बात यह है कि पाप-पुण्य से पृथक होने का तात्पर्य यही है कि मुक्तात्माओं को मोक्षावस्था पर्यन्त पाप-पुण्य अपना फल नहीं कर सकते। तीसरी बात यह है कि पाप पुण्यों की 'क्षीणता का अर्थ पाप पुण्यों का अभाव' नहीं है। यदि लोग क्षीण और अभाव का एक ही अर्थ मानते हैं तो क्या जब एक पुरुष को कहा जाता है कि उसका धातु 'क्षीण' है तब क्या यह समझा जाता है कि उसका धातु नहीं है? किन्तु यही समझा जाता है कि उसका धातु 'निर्बल' है। इसी प्रकार मुक्तात्माओं के कर्म भी 'क्षीण' अर्थात् ज्ञान और उपासना की अपेक्षा से 'निर्बल' हो जाते हैं। परन्तु जब जीवात्मा की सान्त उपासना और सान्त ज्ञान का फल मोक्ष अपनी अवधि को पहुंच जाता है और समाप्त हो जाता है तब वे ही कर्म जो कि पूर्व ज्ञान और उपासना के बल से दूर हट गये थे, मोक्षावधि समाप्त होने पर जन्म का हेतु हो सकते हैं और कर्मों के 'नाश' का तात्पर्य भी 'अभाव' नहीं है क्योंकि नाश शब्द 'णश अदर्शने' धातु से बना है, इसलिये 'नाश का' अर्थ 'तिरोभावमात्र' है और पुण्य पापों से दूर हो जाने का तात्पर्य भी पुण्य पापों का अभाव नहीं है किन्तु इतना ही तात्पर्य है कि पुण्य पापों का प्रभाव मुक्तात्मा पर नहीं होता। पुण्य पापों से छूटने का भी तात्पर्य पुण्य पापों का 'अभाव' नहीं है जैसे कि कारागार से छूटने का तात्पर्य कारागार का अभाव नहीं है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्र0- वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥१॥ गतःकलाः पंचदशप्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणिविज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकोभवन्ति ॥२॥ यथानद्यःस्पन्दमानाःसमुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥३॥ मुण्ड0

अर्थ- (वेदान्त०) वेदान्त के विज्ञान से जिन्होंने तत्वार्थ जान लिया ऐसे (शुद्धसत्वाः) रजोगुण और तमोगुण से वर्जित (यतयः) यती लोग (संन्यासयोगात्) सन्यास के योग बल से (परामृताः) मोक्ष को प्राप्त हुए (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोकों अर्थात् मुक्तावस्थाओं में (निवास करते हैं) (ते सर्वे) और वे सब मुक्तात्मा (परान्तकाले) ब्रह्म महाकल्प पर (परिमुच्यन्ति) बर्ज दिये जाते हैं। पाणिनि के 8।1।5। सूत्र (परेर्वजने) पर-

परेर्वर्जने वा वचनम्

यह वार्णिक किया है। सूत्र और वार्तिक दोनों से 'परि' उपसर्ग का 'वजन' अर्थ स्पष्ट पाया जाता है और वार्त्तिक कार ने द्विवचन का भी विकल्प कर दिया है, इसलिये यह शंका भी जाती रही कि 'वर्जन' अर्थ में यहां 'परि' शब्द को द्विवचन क्यों नहीं हुआ ॥1॥ (गताः कलाः) मुक्ति को प्राप्त होने वालों की प्राणश्रद्धादि 15 कलायें और इन्द्रियां सब अपने-अपने अधिष्ठातृ देवताओं में लीन हो जाती हैं, अर्थात् कार्य शरीर का कारण में लय हो जाता है। और (कर्माणि) क्षीण हुए कर्म (एकीभवन्ति) इकट्ठे हो जाते हैं अर्थात् उपासना और ज्ञान से दब कर मोक्षावस्थापर्यन्त फलोन्मुख तो नहीं हो सकते, किन्तु इकट्ठे रहते हैं अर्थात् परमात्मा के यहां (डिपाजिट=अमानत) धरोहर= निक्षेप में रहते हैं, जिसके अनुसार मोक्षावधि समाप्त होने पर फिर जन्म होएगा। (विज्ञानमयश्च आत्मा) और मन भी (परे अव्यये) अविनाशी परम कारण में लीन हो जाता है। (सर्वे) इस प्रकार सब कारण में लीन हो जाते हैं ॥2॥ (यथा नद्यः) जिस प्रकार नदियां चलती-चलती अपने-अपने भिन्न-भिन्न गंगादि नामों और श्वेत कृष्णादि रूपों को छोड़ कर समुद्र में (अस्तं गच्छन्ति) छिप जाती हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष देवादत्तादि नाम और कृष्णादि रूप से छूटकर (परात्परम्) पर=प्रकृति से भी पर (दिव्यं पुरुषम्) दिव्य परमात्मा के (उषेति) समीप चला जाता है।

कोई-कोई लोग ऐसे भ्रम करते हैं कि जैसे नदी समुद्र में मिल कर समुद्र हो जाती है, तद्वत् जीवात्मा भी ब्रह्म में मिलाकर हो जाता है। परन्तु दृष्टान्त का एक

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

देश ही ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् जैसे नदियों के नाम और रूप समुद्र में मिलने पर भिन्न नहीं रहते, वैसे ही जीवात्माओं के भी देह के साथ से जो नाम और रूप पूर्व थे, वे मुक्ति में नहीं रहते। इस दृष्टान्त को सर्वदेशीय मानना असंगत है। क्योंकि यदि सर्वदेशीय दृष्टान्त मानें तो जैसे समुद्र एकदेशीय है और सर्वव्यापक नहीं है, ऐसे ही परमात्मा को भी एकदेशीय मानना पड़े तथा जैसे समुद्र से नदियों मिलने से पहिले भिन्न देश में थी, ऐसे ही जीवात्माओं को भी मुक्ति से पहले ब्रह्म की व्यापकता से बाहर मानना पड़े, जो कि सर्वथा असंगत है।

अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥ १८॥ (४७४)

नहीं तो पुरुषार्थत्व न रहेगा।

यदि मुक्त पुरुष को भी इतर साधारण जीवों के समान शीघ्र पुनर्जन्म हो जाए तो मुक्ति का नाम पुरुषार्थ ही क्या रहे।

किन्तु-

अविशेषापत्तिरुभयोः ॥ १९॥ (४७५)

दोनों (बद्ध और मुक्त में) अविशेष आप्ति होगी।

अर्थात् मुक्त और बद्ध में कोई विशेष (भेद) न रहेगा।

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥ २०॥ (४७६)

अन्तरायनाश से भिन्न मुक्ति नहीं है।

अन्तराय विघ्न, बाधा, दुःख इत्यादि पदवाय क्लेशों के नाश को ही मुक्ति कहते हैं, इससे पर (अन्य) कोई मुक्ति पदार्थ नहीं है।

तत्राऽप्यऽविरोधः ॥ २१॥ (४७७)

उस (दुख नाश को मुक्ति) मानने में भी विरोध नहीं।

प्रथम सूत्र में त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को परम पुरुषार्थ कह आये हैं, उसमें और यहां के कथन में कोई विरोध नहीं है। किन्तु उसी बात को प्रसंगवश दृढ़ करते हुए अन्य शब्दों में कहा गया है।

प्रश्न- यदि अविवेक के नष्ट होते ही मुक्ति हो तो श्रवणमात्र से सब ही मुक्त हो जाएं? उत्तर-

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥ २२॥ (४७८)

तीन प्रकार के अधिकारी होने से नियम नहीं।

उत्तम, मध्यम, अधम भेद से 3 प्रकार के अधिकारी होते हैं, उनमें से उत्तम अधिकारी तो श्रवणमात्र से अविवेक को दूर कर के मुक्त हो सकते हैं, सब नहीं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

दाढ्यार्थमुत्तरेषाम् ॥ २३॥ (४७९)

दृढ़ता के लिये अगलों की (आवश्यकता है) ।

जो उत्तम अधिकारी हैं, उनको भी श्रवणमात्र से उत्पन्न विवेक ज्ञान की दृढ़ता के लिये श्रवण से अगले मनन निदिध्यासनादि को की दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक नियम से अनुष्ठान करने की आवश्यकता है।

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥ २४॥ (४८०)

यह नियम नहीं है कि स्थिर सुख नामक ही एक आसन है।

किन्तु अनेक प्रकार के यथेष्ट आसन लगा कर ध्यानादि कर सकते हैं।

ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ २५॥ (४८१)

मन को (अन्य) विषयों से रहित करना ध्यान कहलाता है।

जबकि आत्मा के अतिरिक्त मन को कोई अन्य विषय न रहे, उसको ध्यान या योग या समाधि कुछ कहिये, सब एक बात है।

यद्यपि 3।30।(241) में पहले कह आये हैं, कि 'रागोपहतिर्ध्यानम्' राग के नाश को ध्यान कहते हैं, तथापि यहां प्रसंगवश उसी बात को अन्य शब्दों में 'ध्यानं निर्विषयं मनः द्वारा कहा गया है। यही विषय न्याय दर्शन अध्याय 4 अन्हिक 2 में वर्णित हैं। यथा-

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८॥

समाधि विशेष के अभ्यास से (तत्व ज्ञान उत्पन्न होता है)।

इन्द्रियों के अर्थों से हटाए हुए मन को धारक प्रयत्न के द्वारा आत्मा में लगाने का नाम समाधि है, उस समाधि के अभ्यास से तत्व बुद्धि उत्पन्न होती है, जिस से चित्त के मल विक्षेप और आवरण दूर होकर आत्म तत्व का यथार्थ ज्ञान होता है। आगे के दो सूत्रों में पूर्वपक्ष लेकर शंका की गई है कि-

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९॥

क्षुधादिभिःप्रवर्त्तनाच्च ॥ ४०॥

प्र०-अर्थ विशेषों की प्रबलता से तथा भूख आदि की प्रवृत्ति से (समाधि) नहीं हो सकती। इन्द्रियों के अर्थ ऐसे प्रबल हैं कि, जो उनको ग्रहण करना नहीं चाहता है वह भी उन से बच नहीं सकता। यदि किसी प्रकार कोई कृत्रिम दृश्यों से अपने मन को हटा भी ले (यद्यपि यह भी दुष्कर है) तथापि स्वाभाविक दृश्यों से तो वह किसी प्रकार नहीं बच सकता! भूख, प्यास, शीत, आतप और रोगादि ही उसके मन को चलायमान करने के लिये पर्याप्त हैं। इस दशा में समाधि की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? आगे इसका समाधान किया है

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ४१॥

उ०-पूर्वकृत फल के लगाव से उस (समाधि) की उत्पत्ति होती है। समाधि की सिद्धि कुछ एक ही जन्म के अभ्यास से नहीं होती, किन्तु अनेक जन्मों से शुभ संस्कार और अभ्यास इस में कारण हैं। यदि अभ्यास निष्फल होता तो लोक में उस का इतना आदर न किया जाता। जब लौकिक कार्यों के विघ्नों को दूर करने की शक्ति अभ्यास में है, तब पारमार्थिक कार्यों से इसको शक्ति क्यों कर कुण्ठित हो सकती है? आगे योग अभ्यास का स्थान बतलाया है-

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२॥

बन गुफा और नदी तीर आदि स्थानों में योगाभ्यास का उपदेश (किया जाता है)। विविक्त स्थानों में ही योग का अभ्यास हो सकता है, जब पूर्व संस्कार और वर्तमान के अभ्यास से तत्व ज्ञान की उत्कट जिज्ञासा होती है तब समाधि भावना के बढ़ने से योग की सिद्धि होती है। आगे शंका करते हैं-

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ४३॥

मोक्ष में भी ऐसा ही होगा। जैसे लोक में कोई अपने को बाह्य अर्थों से नहीं बचा सकता। ऐसे ही मोक्ष में इन्द्रिय अर्थों से संयुक्त हो कर बुद्धि को विचलित करेंगे। आगे दो सूत्रों से इसका समाधान करते हैं-

न, निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४॥

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५॥

शरीरादि में (तौ) ब्रह्मज्ञान के अवश्यम्भावी होने से ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु अपवर्ग में तो उस (शरीर) का अभाव हो जाता है। इन दोनों सूत्रों का तात्पर्य यह है कि शरीरादि के होते हुए तो कोई अपने को सर्वथा बाह्य ज्ञान की उपलब्धि से नहीं बचा सकता। परन्तु मोक्ष में तो इस स्थूल शरीर का जो चेष्टा और इन्द्रियार्थों का आयतन है, अभाव हो जाता है अतएव मोक्ष में इन का प्रसंग नहीं हो सकता क्योंकि जब आधार ही नहीं तो आधेय कहां रह सकता है? आगे मोक्ष प्राप्ति के साधन दिखलाते हैं-

तदर्थयमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः

उ०- उस (मोक्ष) के लिये यम और नियमों से तथा अध्यात्म विधि के उपायों द्वारा योग से आत्मा संस्कार करना चाहिये। योग के आठ अंग हैं, जिनका निरूपण योग शास्त्र के साधन पाद में किया गया है उनमें से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पांच यम= पहला अंग हैं और शौच संतोष, तप,

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान, ये पांच नियम दूसरा अंग कहलाते हैं। मुमुक्षु को प्रथम इन के सेवन से आत्मा को संस्कार करना चाहिये अर्थात् योग के प्रतिबन्धक मल विक्षेप और आवरण को दूर करना चाहिये। तत्पश्चात् योग अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि से अध्यात्मतत्व को प्राप्त होना चाहिए।।

प्र0-मुमुक्षु को फिर क्या करना चाहिये?

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥४७॥

उ०-ज्ञान के ग्रहण का अभ्यास और उसके जानने वालों के साथ संवाद। उक्त साधनों के अतिरिक्त मोक्ष की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु को अध्ययन, श्रवण और मनन के द्वारा तत्व ज्ञान का निरन्तर अभ्यास और बुद्धि के परिपाक के लिये तत्वज्ञानियों के साथ संवाद भी करना चाहिये क्योंकि बिना अभ्यास ज्ञान की वृद्धि और बिना सम्वाद के बुद्धि की परिपक्वता और संदेहों की निवृत्ति नहीं हो सकती। आगे सम्वाद का प्रकार दिखलाते हैं-

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ॥४८॥

उस (आत्मन्न) को विशिष्ट ज्ञानी, श्रेयोऽर्थी और निन्दारहित शिष्य, गुरु और सहाध्यायी के द्वारा प्राप्त करे। बिना आत्म तत्ववित् आचार्य की दीक्षा के कोई आत्म ज्ञान का लाभ नहीं कर सकता अतएव आनन्दित गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों के साथ ऐसे आचार्य की सेवा में विनीत भाव से जाना चाहिये। उपनिषद् भी कहती है- सगुरुमेवाभिगच्छेत्' श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। इत्यादि।

यदि कहो कि आत्मा को एकरस होने से ध्यान और बिना ध्यान में कोई अन्तर तो है ही नहीं फिर ध्यान का क्या फल है? तो उत्तर-

उभयथाऽप्यविशेषश्चेनैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ॥ २६॥ (४८२)

'दोनों प्रकार ही (ध्यान और बिना ध्यान में) विशेष नहीं' यह पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि उपराग के रूक जाने से विशेष है।

ध्यान समय में उपराग नहीं रहती और बिना ध्यान के आत्मा या पुरुष पर उपराग (बाह्य पदार्थों की छाया) रहती है, इस लिये अध्यान से ध्यान में विशेषता है।

यदि कहो कि निःसंगपुरुष में उपराग कहां से आया? तो उत्तर-

निस्सङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात् ॥ २७॥ (४८३)

निरसङ्ग -(पुरुष) में भी अविवेक से उपराग है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जवास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ॥ २८॥ (४८४)

जवा और स्फटिक के उपराग नहीं, किन्तु अभिमान (रूप उपराग) है।

चेतन आत्मा या पुरुष में अन्य जड़ पदार्थों की छाया या उपराग ऐसे नहीं होता जैसे जवा के रक्त पुष्प की छाया उज्जवल स्फटिक (बिल्लौर) पत्थर पर पड़ती है, किन्तु बुद्धि तत्व की वासना पुरुष में अभिमत होती है। इस अभिमान को ही उपराग या छाया कहा जाता है।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिनिस्तन्निरोधः ॥ २९॥ (४८५)

ध्यान, धारण, अभ्यास और वैराग्यादि से उस (उपराग या छाया या अभिमान) का निरोध होता है।

यदि विषय इसी प्रकार ऊपर कहे न्याय शास्त्र के मत से सम्मत है, सो दिखाया गया । योग शास्त्र में भी यही कहा गया है। यथा-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२॥

(बार 2 रोकन के) अभ्यास और वैराग्य से उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध होता है। चित्तवृत्ति एक नदी के समान है, जिसकी दो धारा हैं, पुण्य और पाप। दो स्थानों को वे दो धाराएं बहती हैं। जो कैवल्य रूप ऊपर के बोझ या दबाव से विवेक रूप नीचे देश में बहती है, वह पुण्य स्थान को बहती है और जो संसार रूप ऊपर के बोझ या दबाव से अविवेकरूप नीचे देश में बहती है, वह पाप स्थान को बहती है। इसलिये बार-बार अभ्यास करके और पापवहा धारा के परिणाम दु:ख भोगों और मलिनताओं के विचार करने से उत्पन्न वैराग्य द्वारा इनका निरोध करना चाहिये। वैराग्य से विषय का स्रोत बन्द किया जाता है, और विवेकोत्पादक शास्त्रों के अभ्यास से विवेक स्रोत को उघाड़ा जाता है। इन दोनों के अधीन चित्तवृत्तिनिरोध है। अभ्यास और वैराग्य का अर्थ बताने को अगले ये सूत्र हैं-

तत्र स्थितौ यंत्रोऽभ्यासः ॥ १३॥

उन (अभ्यास वैराग्य दोनों) में से ठहराव का यत्न करना अभ्यास कहलाता है। वृत्तिरहित चित्त का ठहराव स्थिति कहलाता है, उस स्थिति के लिये यत्न पुरुषार्थ उत्साह (हिम्मत) करना अर्थात् स्थिति के सम्पादन करने की इच्छा से उस स्थिति के साधनों का अनुष्ठान (अमल) करना यह अभ्यास है। आगे सूत्र में अभ्यास की रीति और दृढ़ता सम्पादन करना बताते हैं-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सतुदोधकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ॥ १४॥

और वह (अभ्यास) बहुत काल तक लगातार भले प्रकार सेवन करने से दृढ़ भूमि हो जाता है (जड़ पकड़ जाता है)। बहुत काल पर्यन्त लगातार तप, ब्रह्मचर्य, विद्या, श्रद्धा आदि सत्कारपूर्वक अभ्यास दृढ़ हो जाता है। बार-बार अभ्यास और इतर पदार्थों से वैराग्य (अप्रीति) या अलिप्तता होने से मन एकाग्र होता है।

तथा योग दर्शन 1।23 ईश्वरप्रणिधानाद्वा 1।37। वीतराग 1 विषयं वा वित्तम्। 39 यथाभिमतध्यानाद्वा, इत्यादि सूत्रों में भी इन्हीं ध्यान अभ्यासादि से तत्व ज्ञान वा विवेक ज्ञान होना कहा गया है।

तथा गीता अध्याय 6 में भी ध्यान, योग द्वारा तत्व ज्ञान का वर्णन है। यथा-

योगी युंजीत सततमोत्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
सम कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरं।
सप्रेक्ष्य नासिकाग्रंस्वं दिशश्चाऽनवलोकयन् ॥१३॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य योगोभवति दुःखहा ॥१७॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाऽवतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥
यथा दीपो निर्वातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतोयोगमात्मनः ॥१९॥
यत्रोपरमते चितं निरुद्ध योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्रश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यस्मिन् स्थितो नदुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥२३॥
सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियभ्य्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरभेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किश्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलम स्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥
युञ्चन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्ते सुखमश्नुते ॥२८॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३०॥
तथा च यजुर्वेदे-
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥४०॥ ॥६॥

अर्थ- योगी को चाहिए कि एकान्त वास करता हुआ अकेला चित्त और मन को वश में करने वाला, इच्छाओं का त्याग करता हुआ आवश्यकता का घटाने वाला, होकर निरन्तर आत्मा को (परमात्मा में) लगाए ॥10॥ शुद्ध देश में, न बहुत ऊंचा, न बहुत नीचा वस्त्र, या यर्म या कुशों का बना अपना स्थिर आसन स्थापित करके ॥11॥ चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं का संयम करके उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग को सिद्ध करे ॥12॥ (तब) देह, सिर, ग्रीवा, को अचल रखे, स्थिर रहे, अपनी नासिका के अग्र भाग को देखकर और दिशाओं को न देखता हुआ रहे ॥13॥ हे अर्जुन! न तो अति भोजन करने वाले को योग सिद्ध होता है, न एकाएक भोजन न करने वाले को और न बहुत सोने वाले को ॥16॥ और न (बहुत) जागने वाले को ॥16॥ (किन्तु) उचित आहार-विहार वाले, कर्मों में उचित चेष्टा रखने वाले, उचित निद्रा और जागरण वाले को योगसाधन दुःख नाश करने वाला है ॥17॥

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

जबकि वश में किया हुआ चित्त आपे में ही स्थिर हो जाता है और समस्त कामनाओं से इच्छारहित हो जाता है तब 'युक्त' कहा जाता है ।।18।। जैसे वायु वेगरहित स्थान में स्थित है, दीपक हिलता नहीं है वही यतचित्त, अपने योग को साधते हुवे योगी की उपमा मानी जाती है ।।19।। जिस दशा में कि योग सेवन से रुका हुआ चित्त उपराम को प्राप्त हो जाता है और जब कि आत्मा से आत्मा को ही देखता हुवा आत्मा में संतुष्ट हो जाता है ।।20।। उस सुख को जानता है जो कि बुद्धि से ग्रहण करने योग्य है, जो इन्द्रियों से परे है, आत्यन्तिक है=जिसका अन्त नहीं, जिस (सुख) में स्थिर हुवा यह (योगी) तत्व से नहीं विचलता ।।21।। और जिसको पाकर अन्य लाभ उससे अधिक नहीं मानता और जिस (सुख में) ठहरा हुवा किसी भारी दुख से भी विचाला नहीं जा सकता ।।22।। दुःख संयोग रहित उस (सुख) को योग संज्ञा जाने, वह योग एकाग्र चित्त से निश्चय करके साधना चाहिए ।।23।। संकल्पोत्पन्न सब कामनाओं को निशेष त्याग कर मन कसे ही इन्द्रियों के समूह को सब ओर से रोककर ।।24।। धैर्य से पकड़ी हुई बुद्धि से शनैः-शनैः उपराग को प्राप्त हो और मन को आपे में स्थित करके कुछ भी चिन्तन न करे ।।25।। चंचल न ठहरने वाला मन जिधर 2 को भागे, उधर 2 से रोक कर इस को आपे में ही वश करे ।।26।। इस प्रकार आपे को भी सदा साधता हुआ योगी निष्पाप हुवा सुगमता से ब्रह्म के संयोग रूप अत्यन्त सुख को भोगता है ।।27।। जिसका आत्मा योगयुक्त है वह सर्वत्र समदर्शी हुवा भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को स्थित देखने लगता है ।।29।। हे अर्जुन! जो कोई अपने उपमा से सर्वत्र समान देखता है, चाहे सुख हो चाहे दुःख वह परम योगी माना जाता है।

इसी प्रकार यजुर्वेद 40।6 में कहा है कि जो कोई आत्मा में ही सब भूतों को अनु (प्रति) देखत है और सब भूतों में आत्मा को, तब फिर संशय नहीं करता। अनु शब्द से यह भ्रम नहीं हो सकता कि सर्वभूत ही आत्मा या आत्मा ही सर्वभूत समझा जाए।

तो क्या बस ध्यानादि मात्र से ही चित्तवृत्ति रुक जाती है? उत्तर-

लयविक्षेपयोर्निवृत्त्येत्याचार्याः ॥ ३०॥ (४८६)

बहुत आचार्य (कहते हैं कि) लय और विक्षेप की निवृत्ति से (निरोध होता है)।

योगसूत्रोक्त निद्रावृत्ति को लय कहते हैं और प्रमाणादि अन्य चार वृत्तियों को विक्षेप कहते है, इन दोनों क़ हटाने से निरोध सिद्ध होता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

तो क्या कोई स्थान विशेष है, जहां योग सिद्ध हो सकता है? उत्तर-

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ॥ ३१॥ (४८७)

चित्त की प्रसन्नता से स्थान का नियम नहीं।

जहां मन प्रसन्न हो, जहां चाहे वहां करो, कोई स्थान हिमालय की कन्दरा या मन्दिर-मठ आदि का नियम नहीं है। क्योंकि यह योग व्यापार किसी भूमि या देश के साथ बन्धा नहीं है, स्वतन्त्र है।

प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां तत्कार्यत्वश्रुतेः ॥ ३२॥ (४८८)

प्रकृति को प्रथम उपादानता है क्योंकि अन्यों को प्रकृति का कार्य होना सुनते हैं।

जिन बुद्ध्यादि के तादात्म्य से पुरुष को उसकी वासना का अभिमान हो जाता है, उन बुद्धि आदि का उपादान कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने को यह सूत्र है कि अन्य बुद्धि आदि तो प्रकृति का कार्य हैं, केवल प्रकृति ही सबका प्रथम (आद्य) उपादान कारण है। जिस आदिकारण को यहां सांख्य में प्रकृति नाम से कहा है, उसी को योग दर्शन में-

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम्
॥ २॥ १८॥ (६९)

इस सूत्र में 'दृश्य' नाम दिया है। प्रकाश=सत्व, क्रिया=रजस् और स्थिति=तमस् का अर्थ लगाया जाए तो 'सत्वरजस्तमसों साम्याऽवस्था प्रकृतिः' इस सांख्य सूत्र से मिल जाता है।

वैशेषिक दर्शन में इसी को 'सत्' शब्द से निरूपित किया है। यथा-

सदऽकारणवन्नित्यम् ॥ ४॥१॥१॥

सत्=जो हो अकारणवत=जिसका अन्य कारण न हो, नित्यम्=जो परिणामी परन्तु अनाश्य हो, वह प्रकृति हैं। सत् शब्द से अभाव से भाव मानने वालों का खण्डन है, अकारणवत् से इच्छा गुण का खण्डन और नित्यम् से क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन किया गया है।

व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ न्याय॥ ४। १। ११॥

इस सूत्र में व्यक्त शब्द से इसी उपादान कारण प्रकृति की विवक्षा है। वेदान्त में इसको अव्यक्त कहा है जो इन्द्रियाऽगोचर होने से और न्याय में व्यक्त कहा है सो अनुमानगम्य होने से। इसलिये विरोध नहीं ॥32॥

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कूटः = वस्व ...
कूटस्थः (त्रि) = सर्व मन्दा साक्षी वसेको, अविनाशी

यदि कहो कि पुरुष भी तो नित्य है, वही क्यों न उपादान मान लिया जाए? उत्तर-

नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात् ॥ ३३॥ (४८९)

नित्य होने पर भी आत्मा (पुरुष को उपादानता) नहीं हो सकती क्योंकि योग्यता का अभाव है।

जगत् का उपादान होने योग्य वह पदार्थ हो सकता है, जो परिणामी नित्य हो, पुरुष परिणामी नहीं कूटस्थ है, एकरस है, इसलिये वह उपादान मानने योग्य नहीं। तथा-

श्रुतिविरोधान्नकुतर्काऽपसदस्यात्मलाभः ॥ ३४॥ (४९०)

श्रुति के विरोध से कुतर्क पर स्थित को आत्मा का लाभ नहीं होता ।

'न तस्य कार्य' करणाञ्च विद्यते' इत्यादि श्वेताश्वतरादि के श्रुति वाक्यों का विरोध करके जो कुतर्की पुरुष आत्मा को ही परिणामी नित्य=अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं उनको यथार्थ आत्म ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ॥34॥

यदि कहो कि वृक्षादि की उत्पत्ति में तो प्रत्यक्ष भूमि आदि उपादान कारण हैं, फिर प्रकृति ही सबका आद्य उपादान क्यों मानी जाए? उत्तर-

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥ ३५॥ (४९)

परम्परा होने पर भी प्रधान (प्रकृति) की अनुवृत्ति अणु के समान है।

जैसे अणु से त्रसरेणु और उनसे अन्य घटादि पदार्थ कार्य रूप से बनते हैं, उस दशा में चाहे साक्षात् अणु से घटादि न बनो, परम्परा से बनों, तो भी त्रसरेणु आदि में अणु की अनुवृत्ति अवश्य होती है, इसी प्रकार वृक्षादि भी चाहे साक्षात् प्रकृति से न बनते हों किन्तु (प्रकृति से महत् अहंकार,-तन्मात्रा, स्थूल भूत पृथ्वी आदि, उनसे वृक्षादि) परम्परा से बनते हों तो भी प्रकृति की अनुवृत्ति रहती है। इस कारण आद्य (प्रथम) उपादान प्रकृति ही है ॥35॥ तो क्या प्रकृति विभु भी है? उत्तर हां क्योंकि-

सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम् ॥ ३६॥ (४९२)

सर्वत्र कार्य देखने से विभुत्व है।

प्रकृति के कार्यों को हम एक देश में देखें और दूसरे में न देखें तब तो प्रकृति को अणु कह सकें. परन्तु हम कोई स्थान ऐसा नहीं देखते जहां प्रकृति का कोई कार्य न हो. किन्तु सर्वत्र ही कोई न कोई प्राकृत कार्य देखते हैं, इसलिये प्रकृति को विभु मानना ठीक है। यह प्रकृति का विभुत्व अस्मदादि की दृष्टि में है, न कि परमात्मा की अपेक्षा में।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि कहो कि परिणाम क्रिया से होता है, क्रिया बिना निष्क्रिय पदार्थ में परिणाम नहीं होता, इसलिये प्रकृति में क्रिया या गति माननी होगी और गति विभु पदार्थ में नहीं हो सकता, तो फिर विभु कैसे मान सकते हैं? उत्तर–

गतियोगेप्याद्यकारणताऽहानिरणुवत् ॥ ३७॥ (४९३)

गति के योग में भी आद्य कारणता की हानि नहीं, जैसे अणु में।

जैसे अणु गतिमान होने पर भी संघातों का उपादान है, वैसे ही प्रकृति में परमात्मा की प्रेरणा से गति होने पर भी उसके आय कारण होने में हानि नहीं।

प्रसिद्धाधिक्य प्रधानस्य न नियमः ॥३८॥ (४९४)

प्रधान (प्रकृति को प्रसिद्ध पृथिव्यादि) से अधिकता है (अतः) नियम नहीं।

प्रसिद्ध पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि की अपेक्षा प्रकृति अधिक है। इसलिये सांख्य ने वैशेषिकादि के समान 9 द्रव्यों का नियम नहीं किया। ये सांख्य की प्रक्रिया मात्र का अन्तर है, विरोध नहीं।

सत्त्वादीनामतद्धर्म्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥ ३९॥ (४९५)

सत्वादि उस (प्रकृति) के धर्म नहीं है, तद्रूप होने से ।

सत्व, रज, तम प्रकृति का रूप ही है, इसलिये वे (सत्वादि) प्रकृति का धर्म (गुण) नहीं, किन्तु द्रव्य है।

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥ ४०॥ (४९६)

प्रकृति को भोग न होने पर भी पुरुष निमित्त सृष्टि है। जैसे ऊंट का कुंकुम वहन (ढोना) ।

जैसे ऊंट को कुंकुम लगाना नहीं आता, उसको अपना प्रयोजन कोई नहीं कि कुंकुम रंग को लाद कर ले चले, किन्तु मनुष्यों के लिये लादता है, मनुष्य अपने प्रयोजनार्थ ऊंट पर कुंकुम लादते हैं, तथैव प्रकृति का कोई अपना प्रयोजन नहीं कि सृष्टि रचे, परन्तु पुरुषों के कर्म फल भोगार्थ प्रकृति सृष्टि को उत्पन्न करती है और परम पुरुष परमात्मा प्रकृति से जगत् सर्जन करवाता है।

यदि कहो कि एक प्रकृति से विविध सृष्टि क्यों हुई, एक एक प्रकार की ही क्यों न हुई, उत्तर–

कर्मवैचित्र्यात्तसृष्टिवैचित्र्यम् ॥ ४१॥ (४९७)

कर्मों की विचित्रता से सृष्टि की विचित्रता है।

जिन कर्मों के फल भोगवाने को परम पुरुष प्रकृति से सृष्टि रचता है, वे पुरुषों के कर्म विचित्र प्रकार के होते हैं, एक प्रकार के नहीं, बस उन अनेक प्रकार के कर्मों का फल भोगवाने को आवश्यक है कि सृष्टि अनेक प्रकार की=निचित्र हो।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अच्छा जी! सृष्टि तो कर्मफल भोगवाने को हुई, परन्तु प्रलय क्यों होता है? उत्तर-

साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ॥४२॥ (४९८)

समता और विषमता से दो कार्य होते हैं।

जब प्रकृति के सत्वादि तीनों गुण समता धारण करते हैं, तब प्रलय और जब विषमता धारण करते हैं, तब विचित्र सृष्टि होती है।

अच्छा तो मुक्ति जीवों के लिये प्रकृति सृष्टि को उत्पन्न क्यों नहीं करती? उत्तर-

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥४३॥ (४९९)

विमुक्ति के बोध (विवेक) से प्रकृति की सृष्टि नहीं होती, जैसे लोक में।

जिस प्रकार लोक में मनुष्य जब अपने काम को कर चुकता और कृतकार्य हो जाता है, तब काम बन्द करके आनन्द पाता है, इसी प्रकार जब सृष्टि में आया हुआ पुरुष बोध ज्ञान या विवेक को प्राप्त कर लेता है तब कृतकृत्य हो जाता है और मुक्ति का आनन्द मनाता है, प्रकृति के बन्धन से छूट जाता है, उसको प्रकृति बन्धन में नहीं डालती।

नान्योपसर्पणऽपि मुक्तोपभोगीनिमित्ताऽभावात् ॥४४ (५००)

निमित्त के न रहने से अन्यों की ओर दौड़ने पर भी मुक्त पुरुष को उपभोग नहीं होता।

यदि कोई कहे कि प्रकृति तो सर्वत्र फैली है, जहां जिस देश में मुक्त पुरुष रहते हैं, वहां अन्यों (बद्ध पुरुषों) के समीप दौड़ने वाले प्राकृत बन्धन मुक्तों को भी क्यों नहीं लग जाते? तो उत्तर निमित्ताऽभाव से ऐसा नहीं होता। हम लोक में देखते हैं कि हमारे चारों ओर लोग अनेक काम करते हैं, परन्तु हमारा कोई प्रयोजन न हो तो हमको कोई काम खींच नहीं सकता, हम सब ओर से निर्लेप बने रहते हैं, इसी प्रकार अन्यों के प्रति दौड़ती हुई प्रकृति भी मुक्तों को कोई प्राकृत भोग नहीं भुगवा सकती, क्योंकि उनका कोई निमित्त नहीं।

यही योगदर्शन 2।22। में भी कहा है। यथा-

कृतार्थं प्रतिनष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।२॥ २२॥

कृतार्थ के प्रति नष्ट भी (दृश्य) अन्यों के प्रति सामान्य से अनष्ट है। इससे पूर्व सूत्र में गुणत्रयात्मिका प्रकृति को पुरुष (द्रष्टा) के लिये होना कहा था, उस में यह शंका हुई कि जो पुरुष कृतार्थ (कामयाब) होकर मोक्ष पा गया, उसके प्रति

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

प्रकृति नष्ट (व्यर्थ) है। इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं, बस एक की मुक्ति में शेषों के लिये प्रकृति सार्थक होने से नष्ट नहीं (अनष्ट ही रही) हो सकती। क्योंकि जब एक पुरुष के भोग मोक्ष दोनों कार्य प्रकृति से निकल चुके, तब अन्य अनेकों के साथ प्रकृति वही साधारणता रखती है और उनके भोग मोक्ष के लिये सार्थक रहती है। यूं हिर-फिर कर प्रकृति कभी (नष्ट) निरर्थक नहीं होती। इसलिये कभी संसार का उच्छेद (समूल नाश) नहीं होता। नष्ट का अर्थ व्यर्थ इसलिये किया गया है कि वास्तविक नाश या अभाव असम्भव है क्योंकि प्रकृति कालापेक्ष अनादि अनन्त तीन पदार्थों (जीव, ब्रह्म, प्रकृति) में से एक है।

तो क्या पुरुष बहुत है? उत्तर-हां क्योंकि-

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थात् ॥४५॥ (५०१)

व्यवस्था से पुरुषों का बहुत होना (सिद्ध है)

यदि पुरुष एक होता तो जन्म मरणादि व्यवस्था न पाई जाती, परन्तु कोई मरता, कोई जन्मता है, इस व्यवस्था से पुरुषों का बहुत होना पाया जाता है। तथा च-

१-न्यायदर्शन में भी-

(1) पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः 1।1।19

इस सूत्र में एक देह को त्याग कर अन्य देह में जाना=जन्मान्तर माना है। इस से जीव अनेक तथा परिच्छिव सिद्ध होते हैं, क्योंकि एक विभु पदार्थ कहीं को सरक नहीं सकता।

(2) नात्ममनसोः संनिकर्षाऽभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ।।21।। (82)

इस सूत्र में प्रत्यक्षोत्पत्ति में आत्मा और मन के संयोग को अभाव कहते हुए सिद्ध होता है कि आत्मा विभु या एक नहीं किन्तु परिच्छिन्न और अनेक है। एक होता तो सबसे सदा संयुक्त रहता। जीवों में परस्पर स्पर्धा, द्वेष, विरोध, ईर्ष्या, शत्रुता इत्यादि से भी जीवों का अनेकत्व तथा परिच्छिन्नत्व सिद्ध है ।।और-

२-वैशेषिकदर्शन में भी-

(1) सुखदुःखज्ञाननिष्पत्यविशेषादेकात्म्यम् 3।19।

(2) व्यवस्थातो नाना ।।3।20।।

इन दोनों सूत्रों में आत्मा के एक कहने का कारण बताकर वास्तव में आत्माओं का अनेक होना बताया गया है। सबको सुख-दुःख ज्ञान की सिद्धि एक सी होने रूप सजातीयता से जातिपरक आत्मा को एकत्व है परन्तु व्यवस्था से आत्मा बहुत हैं। इसी बात को पूर्व पुष्ट करते हुए कहा है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

३-सांख्यदर्शन-

(1) नद्वैतश्रुतिविरोधोजातिपरत्वात् ।।1।।54।।

जो श्रुति आत्मा (जीव) के अद्वैत को वर्णन करती है उनसे विरोध इसलिये नहीं रहता कि जीव अनेक होने पर उन की जाति एक है, उसी का वर्णन वे श्रुतियां करती हैं।

(2) नाद्वैतमात्मनो लिंगात्तद्भेदप्रतीते: ।।5।61।।

आत्मा के चिह्न से उनका भेद प्रतीत होता है इसलिये जीव विषयक अद्वैत ठीक नहीं। तथा-

४- योगदर्शन

में निम्न लिखित सूत्र में ऊपर 43 वें सूत्र की व्याख्यानुसार कहा है कि 'कतार्थ पुरुष को नष्ट भी दृश्य अन्यों (पुरुषों) को नष्ट नहीं साधारणता से'। इस से पुरुषों (आत्माओं=जीवों) का अनेकत्व सिद्ध है । तथैव-

५-वेदान्तदर्शन

(1) तदन्तरप्रतिपत्तो रहतिपरिष्क्वत: प्रक्षनिरूपणाभ्याम् ।।3।।1।।

(2) नाऽणुरतच्छ्वतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।।2।3।21।।

(3) अंशोनानाव्यपदेशात् ।।2।3।43।।

(4) असन्ततेश्चाऽव्यतिकर: ।।2।3।49।।

(5) उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।।2।3।19।।

(1) शरीरान्तर या जन्मान्तर की प्राप्ति में चलता है और अन्य भूतों से मिलता है। यह प्रश्नोत्तरों से सिद्ध है। इसमें जीव के एक देह छोड़कर देहान्त धारण करने से उसका परिच्छिन्न एकदेशीय होना और उसी से बहुत होना सिद्ध है।

(2) यदि कहो कि आत्मा अणु नहीं है क्योंकि श्रुति उसको विभु बताती है, तो इसका उत्तर यह है कि (न) नहीं क्योंकि उन श्रुतियों में अन्य (परमात्मा) का प्रकरण है अर्थात् जिन श्रुतियों में आत्मा को विभु=व्यापक कहा है, वहां परमात्मा का प्रकरण है, किन्तु जीवात्मा अणु ही हैं।

(3) नाना (बहुत=अनेक) होने के कथन से जीवात्मा अंश है। इसमें स्पष्ट जीवात्मा को नाना (बहुत) संख्या वाला बताया है।

(4) विभु न होने से व्यत्यय नहीं।

इसमें जीवात्मा को विभु न मानने से अणुत्व और उससे बहुत्व भी सिद्ध है।

(5) देह छोड़ना, जाना-आना इन हेतुओं से भी जीवों का अणुत्व और बहुत्व सिद्ध होता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

उपाधिश्चेत्तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥४६॥ (५०२)

यदि उपाधि है, तो उपाधि की सिद्धि में फिर द्वैत होगा।

जो अद्वैतवादी कहते हैं कि जन्म मरणादि व्यवस्था उपाधिभेद से एक ही पुरुष में होती है, उन के मत में यह दोष है कि उपाधि मानने से भी द्वैत हुआ क्योंकि एक पुरुष, दूसरी उपाधि अर्थात् अद्वैत् तो तब भी न रहेगा क्योंकि उपहित और उपाधि ये दोनों पदार्थ हो गये। द्वैतापत्ति का निवारण उपाधि मानने पर भी न होने से औपाधिक पुरुष बहुत्व नहीं, किन्तु वास्तविक पुरुष बहुत्व ही ठीक है ॥46॥

यदि कहो कि उपाधि और दोनों पुरुष प्रकृति ओर पुरुष ही हैं इससे उपाधि कृत पुरुष बहुत्व है, वास्तविक नहीं? उत्तर-

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥४७॥ (५०३)

दो में भी प्रमाण विरोध (आएगा)।

जिन अद्वैत प्रतिपादक प्रमाणों के विरोध में बचने के लिये तुम उपाधिकृत पुरुषबहुत्व कल्पना करते हो, उन प्रमाणों से तो दो पदार्थ मानने से भी विरोध रहेगा ही, फिर उपाधिकृत बहुत्व न मानकर सीधा वास्तविक पुरुष बहुत्व ही क्यों न मान लो।

द्वाभ्यामप्यऽविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाऽभावात् ॥४८॥ (५०४)

साधक प्रमाण के अभाव से, दोनों से भी विरोध न मानों तो न तो पहला पक्ष ठीक है, न दूसरा।

पहला पक्ष यह था कि उपाधि से अनेक पुरुष जान पड़ते हैं, इससे यह दोष दिया गया कि फिर भी उपाधि और पुरुष इन दो पदार्थों के मानने से द्वैत रहा, अद्वैत नहीं। इस पर यदि दूसरा पक्ष किया जाए कि हमको तो पुरुष का अद्वैत इष्ट है, विजातीय उपाधिकृत द्वैत से हमारी हानि नहीं न कोई प्रमाण विरोध है, तो उत्तर यह है कि इस में कोई साधक=प्रमाण नहीं कि अद्वैत का तात्पर्य पुरुषाऽद्वैत मात्र में है, अतएव दूसरा पक्ष भी असिद्ध है।

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ॥४९॥ (५०५)

यदि स्वतः प्रकाश से उस (पुरुषाऽद्वैत) की सिद्धि हो तो कर्मकर्तृ भाव का विरोध है।

यदि कहो कि अन्य प्रमाण की आवश्यकता क्या है, स्वयं प्रकाश पुरुष ही स्वयं अपने अद्वैत भाव का प्रकाशक है तो उत्तर यह है कि ऐसा मानने से कर्म

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

कर्त्ता का विरोध है, अर्थात् पुरुष ही प्रकाशक=कर्त्ता और वहा प्रकाश्य=कर्म मानना पड़ेगा, जोकि असम्भव है। किन्तु-

जड़व्यावृत्तो जड़ं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥५०॥ (५०६)

जड़ से भिन्न, चिद्रूप जड़ को प्रकाशित करता है।

प्रकाशक चेतन पुरुष है और प्रकाश्य जड़ प्राकृत पदार्थ समूह है ॥50॥

यदि कहो कि जड़ चेतन भेद से द्वैत मानने पर अद्वैत श्रुतियों का विरोध आएगा? तो उत्तर-

न श्रुतिविरोधोरागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥५१॥ (५०७)

श्रुतियों से विरोध नही होगा, क्योंकि रागियों को वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये उन (श्रुतियों) की सिद्धि है।

जहां कहीं कोई श्रुति यह कहती है कि आत्मा ही केवल वस्तु है और उस से भिन्न प्राकृत जगत कुछ नहीं, इसका तात्पर्य सांख्याचार्य कपिलदेव जी इस सूत्र द्वारा यह बताते हैं कि रागी पुरुषों (विषय सक्तों) को वैराग्य उत्पन्न करने के लिये जगत को और उसके समस्त विषय भोगों को अति तुच्छ बताने के लिये श्रुतियों ने 'जगत कुछ नहीं' इस आशय के वाक्य कहे हैं कि जिससे जगत के विषयों से वैराग्य होकर मनुष्य को आत्मज्ञान में अनुराग या रूचि हो। वास्तव में जगत् मिथ्या या असत् नहीं किन्तु जब कोई वस्तु किसी अन्य बड़ी वस्तु के सामने अति तुच्छ होती है तो उसकी अति तुच्छता के प्रकट करने को उसे 'कुछ नहीं' कहा जाता है। इस प्रकार सांख्याचार्य जड़, चेतन भेद से द्वैत की पुष्टि करते हैं । तथा-

अन्यथाऽभेदानुपपत्तिरितिचेन्नोपदेशान्तरवत् ॥
वेदान्तदर्शन ३।३।३६॥

अन्यथा अभेद की अनुपपत्ति होगी। इसका उत्तर देते हैं कि अभेद का कथन दूसरे उपदेशों की नाई बन सकेगा। जैसे प्राण के अधीन स्थिति प्रवृत्ति होने से प्राण को 'एषोऽग्निस्तपति एष सूर्यः० (प्रश्न० 2।5।)' इत्यादि से सर्वरूप कहा है और छान्दोग्य बृहदारण्यक की प्राण विद्या में इन्द्रियों को प्राणरूप कहा है अर्थात् सुस्पष्ट भेद में भी अभेदरूप से वर्णन है। वैसी ही यहां भी है अर्थात् इस सूत्र में और उक्त सांख्य सूत्र में ऐसा कहा है कि भेदवाक्य मुख्य हैं। अभेद वचन जिस हेतु से आये हैं, वह हेतु दर्शाया है, परन्तु सांख्य या वेदान्त में भेद वचन का तात्पर्य अभेद में नहीं हैं। इसलिये भेदवाद ही सर्वशास्त्रसम्मत् वैदिक है, अद्वैतवाद नहीं।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

आगे जगत की सत्यता में अन्य हेतु भी देते हैं। यथा-

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद्बाधकाऽभावात् ॥५२॥ (५०८)

अदुष्ट कारण से उत्पन्न होने और बाधक न होने से जगत को सत्यता है।

और बाधकाऽभाव से सीप में चांदी के समान भ्रान्ति ज्ञान विषयता कहने वालों का प्रत्युत्तर हुआ। क्योंकि जिस प्रकार सीप में चांदी आदि की प्रतीति भ्रम दोष से होती है, वैसे जगत् की प्रतीति किसी भ्रम दोष से नहीं होती तथा जिस प्रकार भ्रम निवृत होने पर चांदी की प्रतीति निवृत हो जाती है, इस प्रकार भ्रमनिवृत्ति पर जगत की प्रतीति नहीं हटती। अथवा जिस प्रकार निद्रा के तमोदोष से स्वप्न में प्रतीति होती है और जागने पर बाधित हो जाती है, इस प्रकार जगत की प्रतीति तमोदोष से नहीं होती, न प्रकाश से निवृत्त होती है। इसलिये जगत सत्य है, नित्य नहीं।

प्रमाण- 'यदिदं किं च, तत्सत्यमित्याचक्षते' तैत्ति० 2।6=यह जो कुछ है उसको 'सत्य' कहते हैं तथा-प्राणा' वै सत्यम् तेषामेष सत्यम्' बृह० 2।1।20 निश्चय प्राण सत्य हैं, उनका यह सत्य है। इत्यादि बहुत प्रमाण हैं ।।52।। तथा-

प्रकारान्तराऽसंभवात्सदुत्पत्तिः ॥५३॥ (५०९)

अन्य प्रकार से सम्भव नहीं अतः सत से उत्पत्ति हैं।

सत् (प्रकृति) से उत्पन्न होने के अतिरिक्त जगत की उत्पत्ति अन्य प्रकार से सम्भव नहीं, इसलिये सत्य प्रकृति से उत्पन्न जगत भी सत्य है ।।53।। प्रश्न-

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः ॥५४॥ (५१०)

अहंकार कर्त्ता है, पुरुष नहीं।

जब फिर पुरुष को भोक्ता कैसे मान सकते हैं। उत्तर-

चिदऽवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ॥५५॥ (५११)

भोग का पर्थवसान चित्त=जीव में है क्योंकि उस (जीव) के किये कर्मों से कमाया गया है।

भोग, जीव के कर्मों की कमाई (फल) है, इसलिये जीव ही कर्त्ता और वही भोक्ता है तथा अन्य सूत्र जो जीव को निष्क्रिय कहते हैं, उनका तात्पर्य जीव के स्वरूप में क्रिया न होने से है, परन्तु जीव के संनिधान से देहादि में क्रिया होती है, जीव के निकल जाने पर नहीं होती, अतः जीव (पुरुष) उन क्रियाओं का कर्त्ता है, तथा इसी प्रकार भोक्ता भी है। इस विषय में गत सांख्य के इतने सूत्र प्रमाण हैं, जिनको स्मरणार्थ नीचे उद्धृत किया जाता है-

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

1-'अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ:' (1।1) तीन प्रकार के दु:खों से अत्यन्त निवृत्ति परम पुरुषार्थ है।

2- 'अत्यन्तदु:खनिवृत्या कृतकृत्यता' (6।5)=दु:खों से अत्यन्त निवृत्ति से कृतार्थ होते हैं।

3- 'यथा दु:खात क्लेश: पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाष:' (6।6)=जैसा दु:ख से क्लेश पुरुष को होता है, वैसा सुख से उसका अभिलाष नहीं।

4-''विवेकान्नि:शेषदु:खनिवृतौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्'' (3।84)=विवेक से सर्व दु:खों से निवृत्त होने पर कृतकृत्यता= परमपुरुषार्थ सिद्धि होती है, न कि अन्यथा ।।

5- 'कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च' (1।144।) =कैवल्य 'मोक्ष' के लिये (जीव की) प्रवृत्ति होती हैं, इस हेतु से भी जीव कर्त्ता है।

6- 'द्रष्ठत्वादिरात्मन: करणात्वमिन्द्रियाणाम्' (2।29। =जीवात्मा द्रष्टा, भोक्ता, कर्त्ता आदि है और उसके साधन करण महत् आदि इन्द्रिय हैं।

7- 'पुरुषार्थकारणोद्भवा०' (2।36)=कर्त्ता=जीव के लिये कारण इन्द्रिय है।

8-'करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात्' (2।38)=महत् अहंकार मन आदि 13 करण है।

9-'प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुते: (6।32)= आदि उपादान कारण जगत का प्रकृति है और उस प्रकृति के विकार महतादि हैं।

10-'ज्ञानान्मुक्ति' (3।23)= विवेक ज्ञान से ईश्वर-जीव-प्रकृति के यथार्थ ज्ञान से सब दु:खों से क्लेशों से तापों से मुक्ति होती है।

11-'तत्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धि:' (3।75)=तत्व के अभ्यास करने से ईश्वर, जीव, प्रकृति के विवेकरूपी ज्ञान के दार्ढ्य और वैराग्य से विवेक सिद्धि होती है।

12-'वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धि:' (3।31)=चित्तवृत्तियों को रोकने से ध्यान योग होता है।

13-'वैराग्यादभ्यासाच्च' (3।36)=वैराग्य और अभ्यास से ध्यान सिद्ध होता है।

14-'ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोध:' (6।29)= ध्यान आदि से अभिमान रूक जाता है।

इत्यादि अनेक सूत्रों द्वारा सांख्यदर्शन इसी सिद्धान्त का सम्पूर्णतया सर्वथा प्रतिपादन करता है। वैदिक सिद्धान्त ही ऊपर उद्धृत सांख्य दर्शन के सूत्रों में

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

अविकल पाये जाते हैं। ऊपर के सूत्रों में स्पष्ट कहा हुआ है कि जीव कर्त्ता है और उसके कारण महत आदि इन्द्रिय हैं, जीव दुःखों से निवृत्त हो जाने का प्रयत्न करता है, चित्तवृत्तियों को रोक कर अभ्यास वैराग्य आदि द्वारा योगसिद्ध होने से प्रकृति जीव- ईश्वर का यथार्थ ज्ञान विवेक प्राप्त होता है, जिससे जीव (कर्त्ता) सर्व दुःखों से मुक्त हो कृतकृत्य हो जाता है।

तो क्या जैसे पृथ्वी पर कर्मफल भोगार्थ पुनरावृत्ति=पुनर्जन्म होता है, इसी प्रकार चन्द्रलोकादि के जीव भी जन्मते मरते=पुनः जन्म वाले हैं।

उत्तर-हां, क्योंकि-

चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ॥५६॥ (५१२)

चन्द्रादि लोक में भी पुनर्जन्म है, क्योंकि निमित्त (कर्म) की सत्ता है।

जहां-जहां कर्म हैं, वहां-वहां पुनर्जन्म है, इसलिये सभी लोक-लोकान्तर के पुरुष पुनर्जन्म पाते हैं। तो क्या चन्द्रादिलोकवासियों को भी कर्मफल भोगना आवश्यक है? उत्तर- हां क्योंकि

लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥५७॥ (५१३)

लोक विशेष का उपदेश न होने से पूर्वलोक (भूलोक) के समान सिद्धि है।

जिन शास्त्रों ने कर्म फल भोगना आवश्यक ठहराया है, उन शास्त्रों ने किसी लोक विशेष पृथ्वी आदि का नाम लेकर उपदेश नहीं किया इससे सिद्ध होता है कि वे शास्त्र पूर्वलोक (भूलोक) के समान सर्वलोक निवासियों को ही कर्म फल भोग आवश्यक बताते हैं, जब चन्द्रादिलोकस्थ जीव कर्म करते हुए फल भोगार्थ पुनर्जन्म से कब बच सकते हैं।

क्यों जी! छान्दोग्य प्रपा० 4 ख 15-6 में तो यह लिखा है कि 'चन्द्रमसो विद्युतं, तत्पुरुषाऽमानवः। स एनान ब्रह्म गमयत्येष देव पथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते' अर्थात् चन्द्रलोक से विजुली को प्राप्त होकर जीव अमानव (मनुष्य देह रहित) हो जाता है। वह (मार्ग) इन जीवों को ब्रह्म तक पहुंचाता है, यह देवपथ या ब्रह्मपथ है, इस मार्ग से जाने वाले इस मनुष्य देह में पुनर्जन्म नहीं पाते। तब तुम कैसे (पूर्व सूत्र में) कहते हो चन्द्रादि लोकस्थ भी पुनर्जन्म पाते हैं? उत्तर-

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिःश्रुतिः ॥५८॥ (५१४)

परम्परा से उस (मोक्ष) की सिद्धि में (उक्त मुक्ति प्रतिपादक श्रुति है)।

चन्द्रलोक से सीधे मुक्ति को पा जाते हैं, यह श्रुति में नहीं कहा किन्तु परम्परा

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

से कहा है अर्थात् चन्द्रलोकस्थ जीव यदि मुक्ति के साधनों से सम्पन्न हो जाएं तो विद्युत को प्राप्त हो जाते हैं, तब फिर उस देवमार्ग से मुक्ति पाते हैं, किन्तु चन्द्रलोक साक्षात् देव मार्ग नहीं वह तो पितृमार्ग=पुनर्जन्म वाला है।

गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद्‌गभोगदेशकाललाभो व्योमवत्
॥५९॥ (५१५)

व्यापक होने पर भी आकाश के समान उपाधियोग से भोग देश और काल का लाभ (जीव को हो सकता) परन्तु (जीव की तो) गति सुनते हैं।

जीव तो श्रुतियों से देशान्तर को या लोकान्तर को गति करने वाला सुना जाता है, अर्थात् गतिमान् है, व्यापक नहीं, परन्तु यदि व्यापक भी होता तब भी तो उपाधियोग से भोग देश और काल का लाभ जीव को हो सकता था। अर्थात् भोग विशेष, काल विशेष और देश विशेष की प्राप्ति जीव को उपाधियोग से तब भी होती जब कि वह व्यापक होता और फिर गतिमान् होने अर्थात् अणु होने, व्यापक न होने पर तो चन्द्रादि लोक विशेषों की प्राप्ति में भी पुनर्जन्म मानने में कहना ही क्या है।

प्रश्न-तो क्या जैसे जीव के चन्द्रादि लोकों में जाने से पहले ही वे चन्द्रादि लोक वर्त्तमान हैं, इसी प्रकार क्या जीव के लिये देहान्तर भी पहले से तैयार रहते हैं और समय पर जीव उन में चला जाता है? उत्तर- नहीं, क्योंकि-

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसङ्गान्नतत्सिद्धिः ॥६०॥ (५१६)

बिना (जीव के) अधिष्ठाता हुए (देह के) सड़ जाने का प्रसंग होगा (इससे उनकी सिद्धि नहीं)।

यदि जीव पीछे अधिष्ठाता बने और लोकान्तर के समान देहान्तर पहले से वर्त्तमान मानें तो यह दोष होगा कि बिना जीव के वे देह सड़ जाएं।

अदृष्टद्वारा चेदऽसंबद्धस्य तदऽसंभवाज्जलादिवदऽङ्कुरे
॥६१॥ (५१७)

जैसे जलादि से अंकुर में (बिना बीज संयोग के सिद्ध नहीं) ऐसे ही बिना (जीव) सम्बन्ध के यदि अदृष्ट द्वारा (भी देहान्तर सिद्धि माने तो) असम्भव है।

यदि कहो कि जीव के अदृष्ट (प्रारब्ध) द्वारा पहले से देहान्तर तैयार रहने क्यों न मानें, तो उत्तर यह है कि जीव सम्बन्ध रहित देहों का रहना सम्भव नहीं, जैसे जलादि में बीज बिना अंकुर नहीं उग्जते।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

निर्गुणत्वात्तदऽसंभवादऽहंकारधर्माह्येते ॥ ६२॥ (५१८)

निर्गुण होने से असंभव होने से ये अहंकार के हो धर्म हैं।

ये अदृष्ट आदि सब धर्म अहंकार के हैं, केवल पुरुष (जीव) के नहीं, क्योंकि पुरुष निर्गुण है उसमें सत्व, रज, तम, कोई गुण स्वरूपगत नहीं, अदृष्टादि सब गुण त्रयात्मक हैं, अत: वे अहंकार के धर्म हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष को निर्गुण कहने का अर्थ कोई यह न समझे कि पुरुष में कोई गुण या धर्म नहीं है, किन्तु पुरुष में चैतन्य धर्म या गुण तो अवश्य है और कोई भी सत्पदार्थ ऐसा नहीं है जिस में कोई गुण न हो। द्रव्य और गुण का तो नित्य सम्बन्ध है। परन्तु सांख्य में गुण शब्द से प्रकृति के अन्तर्गत सत्वादि 3 द्रव्यों की लाक्षणिक संज्ञा 'गुण' है, बस पुरुष में सत्व, रज, तम कोई गुण उसके निज के नहीं अत: उसको स्वरूप से निर्गुण कहा जाता है।

विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥ ६३॥ (५१९)

अन्वय और व्यतिरेक से विशिष्ट को जीवत्व है।

यदि कोई कहे कि हम तो अनेक धर्मशास्त्रादि में जीव को प्रारब्धानुसार जाति, आयु और भोग की चर्चा देखते-सुनते हैं, तब सांख्यकार ने प्रारब्धादि को अहंकार का धर्म क्यों कह दिया? उत्तर यह है कि जहां 2 जीव प्रारब्धकर्म फल भोग का वर्णन है, वहां-वहां अहंकार विशिष्ट पुरुष को 'जीव' मानकर कहा गया है क्योंकि जहां-जहां अहं प्रत्यय नहीं वहां (मुक्ति में) जीव शब्द से व्यवहार नहीं, किन्तु वहां पुरुष आत्मा इत्यादि शब्दों से व्यवहार है इसलिये अहंकार सहित पुरुष को जीव कहते हैं, केवल पुरुष को नहीं।

प्रश्न- जीव को जो कार्य सिद्धि होती हैं वे किसके अधीन है? उत्तर-

अहंकारकर्त्रऽधीना कार्यसिद्धिर्नेश्वराऽधीना, प्रमाणाऽभावात् ॥ ६४॥ (५२०)

कार्यों को सिद्धि अहंकार कर्त्ता के अधीन है, ईश्वराधीन नहीं, क्योंकि (ईश्वराधीन होने में) कोई प्रमाण नहीं।

इस से पूर्व 54 (510) वें सूत्र में अहंकार के कर्त्ता होने का वर्णन कर आये हैं, उसी को पढ़ कर समाधान समझना चाहिए।

अदृष्टोद्भूतिवत्समानम् ॥ ६५॥ (५२१)

अदृष्ट (प्रारब्ध) की उत्पत्ति के सदृश रामानता है।

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

यदि कोई प्रारब्धाऽधीन कार्य सिद्धि मानें, तो अदृष्ट भी पुरुष के पूर्व जन्म कृत कर्मों से उत्पन्न हुआ हैं, इस लिये वह भी अहंकारकर्तृक ही होने से समान है अर्थात् एक ही बात है, चाहे प्रारब्धाधीन कहो चाहे अहंकारयुक्त पुरुष के कर्माधीन कहो, दोनों प्रकार से कार्य सिद्धि पुरुषार्थाऽधीन ही है।

तो क्या मोक्ष की सिद्धि भी अहंकारयुक्त पुरुष के अधीन है? उत्तर-नहीं, प्रत्युत-

महतोऽन्यत् ॥६६॥ (५२२)

अन्य (मोक्ष) महत्=बुद्धि के (अधीन है)।

सांसारिक कार्य सिद्धियों से अन्यत् (मोक्ष की सिद्धि) अहंकाराऽधीन नहीं, किन्तु सत्व प्रधान बुद्धि के अधीन है।

जबकि प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान से मनुष्य को प्रकृति का सम्बन्ध टूट कर अत्यन्त दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब फिर यह भी बताना आवश्यक है कि यह मनुष्य प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ता ही क्यों है? उत्तर-

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यऽनादिर्बीजाङ्कुरवत् ॥६७॥ (५२३)

प्रकृति का स्वस्वामिभाव (मिलकियत और मालिकाना) कर्म निमित्तक भी अनादि है, जैसे बीज अंकुर का (अनादि है)।

जिस प्रकार बीज से अंकुर, अंकुर से पुनः बीज, बीज से पुनः अंकुर की उत्पत्ति देखते हैं और यह नहीं कह सकते हैं कि बीज पहला है या अंकुर पहला, किन्तु प्रवाह से बीज और अंकुर दोनों अनादि हैं, इसी प्रकार कर्म से देह और देह (प्राकृत जड) से कर्म होते हैं। इस प्रकार प्रवाह से अनादित्व दोनों को है। 1।16 में कर्म बन्ध कारणता का प्रत्याख्यान कर चुके हैं, यहां उसकी पुष्टि करने को कहा है कि बीजाङ्कुरवत् दोनों को अनादित्व है, केवल कर्म ही कारण नहीं। अथवा-

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ॥६८॥ (५२५)

पंचशिखाऽचार्य (कहते हैं कि) अविवेक निमित्तक है।

पंचशिखाचार्य का मत है कि जीव (पुरुष) अल्पज्ञ है, अत् उसका विवेक जाता रहता है अर्थात् उसको भूल हो जाती है, वह असत् को सत् या जड़ को चेतन या अहित को हित जानने लगता है, इस कारण प्रकृति से संबन्ध जोड़ लेता है, तब अविवेक को इस प्राकृत संबन्ध का निमित्त मानना ठीक है। योग दर्शन

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

2।4। (75) में भी यही कहा है कि 'तस्य हेतुरविद्या'=प्राकृत संयोग का हेतु अविद्या=अविवेक है। तथा-

लिंगशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ॥६९॥ (५२५)

सनन्दनाऽऽचार्य-लिंगशरीरनिमित्तक (प्रकृति सम्बन्ध है)

पुरुष का लिंग शरीर दूसरे देह को धारण करने का निमित्त है, यह सनन्दनाचार्य का मत है। तथा-

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥७०॥ (५२६)

चाहे यह हो, या वह हो, उस (प्राकृत सम्बन्ध) का उच्छेद करना ही पुरूषार्थ है।

सांख्याचार्य कहते हैं कि सभी बातें ठीक जान पड़ती हैं, लिंग शरीर भी शरीरान्तर का निमित्त है, कर्म भी जो बीजाङ्कुरवत अनादि है, निमित्त है अविवेक भी निमित्त है, (क्योंकि विवेकी तो मुक्त ही हो जाता है)। कुछ हो, परन्तु पुरुषार्थ (पुरुष का अर्थ=परमोद्देश) तौ यही होना चाहिए कि प्रकृति के सम्बन्ध (बंधन) को छोड़कर मोक्ष प्राप्त करे। तुदुच्छित्तिः पुरुषार्थः' इतना पाठ दोबारा इस लिये पढ़ा है कि जिससे अध्याय और ग्रन्थ की समाप्ति सूचित हो।

योग दर्शन के चतुर्थ (कैवल्य) पाद सूत्र 60 (190) में भी यही कहा है कि 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः=उस धर्म' मेघ समाधि=विवेक से अविद्यादि क्लेशों और तदाधीन कर्मों की निवृत्ति होकर मोक्ष होता है।

तथा योग दर्शन साधन पाद (द्वितीय) के सूत्र 25 (76) में भी यही कहा है कि 'तदऽभावात् संयोगाऽभावो हानं तद्दृशेकैवल्यम्= उस अविद्या=अविवेक के अभाव से प्राकृत संयोग का अभाव=हीन है, वही दृष्टा (पुरुष) का मोक्ष है।

तथा योग दर्शन समाधि (तृतीय) पाद सूत्र 49 (155) का भी यही आशय है कि 'तद्वैराग्यादपि दोषवीजक्षये कैवल्यम्'=उस प्राकृत पदार्थ मात्र से भी जब वैराग्य हो जाता है, उससे दोषों का बीज क्षीण होने पर मोक्ष हो जाता है।

तथा योग 4।26। (186) में-'तदा विवेकनिम्नकैवल्यप्राग्भारं वित्तम्'=तब विवेक से गम्भीर चित्त मोक्ष की ओर फिर जाता है।

ओर-'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां०'=पुरुष के लिये निष्प्रयोजन गुणों का अपने कारण में लय या चिति शक्ति (पुरुष) का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना मोक्ष या कैवल्य है। योग 4।34 (194)

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

योग द० 3।54 (160) 'सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'=सत्व और पुरुष की शुद्धि में समता होने पर मोक्ष होता है। विस्तार से इस सूत्र का व्याख्यान मेरे बनाये योग दर्शन भाषानुवाद में देखियेगा।

जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी में समस्त शास्त्र का सार मोक्ष प्राप्ति का क्रम तीन कारिका (श्लोकों) में क्या अच्छा दिखलाया है-

तत्त्वज्ञानेन तेनास्य मिथ्याज्ञानेऽपबाधिते।
रागद्वेषादयो दोषास्तन्मूलाः क्षयमाप्नुयुः॥१॥
क्षीणदोषस्य नोदेति प्रवृत्तिः पुण्यपापिका।
तदभावान्न तत्कार्यं शरीराद्यपजायते ॥२॥
अशरीरश्च नैवात्मा स्पृश्यते दुःखडम्बरैः ।
अशेषदुःखोपरमस्त्वपवर्गोऽभिधीयते ॥३॥

अर्थ-उस तत्व ज्ञान से इस पुरुष (जीव) के मिथ्या ज्ञान हट जाने पर मिथ्या ज्ञान मूलक राग द्वेषादि दोष नाश को प्राप्त हो सकते हैं ॥1॥ जिसके दोष क्षीण हो गये उसको पुण्य-पाप रूप प्रकृत्ति उदय नहीं होता, प्रवृत्ति के न रहने से प्रवृत्ति के कार्य=शरीरादि नहीं उपजते ॥2॥ और शरीर रहित आत्मा दुःख के धक्कों से नहीं छुआ जाता, फिर समस्त दुखों का हट जाना मोक्ष कहलाता है ॥3॥

आत्मा के अस्तित्व से मोक्ष पर्यन्त कह करके यह षष्ठाऽध्याय समाप्त हुआ। साथ ही प्रथम सूत्र ग्रन्थारम्भ से जो त्रिविधदुःखात्यन्त निवृत्ति को पुरुषार्थ बताया गया था, उसी को सिद्ध करके पुरुषार्थ शब्द के साथ ग्रन्थकार कपिल मुनि जी ने इस दर्शन को समाप्त किया है।

समाप्तं सांख्यदर्शनम्

■■■

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

DYNAMIC

Read Dynamic !
To Be Dynamic !!

Dynamic Publications (India) Ltd.
11, Shivaji Road, Meerut - 250 001 (U.P.) INDIA
Ph. : (0121) 2644766, 2642946.
Fax : 0121-2645855
e-mail : sk_kpm@yahoo.com
Visit us : www.dynamicpublication.com

(Please Send 50/- as an advance for V.P.P.)
Total Postage Free on the Purchasing of Five or more Books.

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu. Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

DYNAMIC

Dynamic's Precious Series For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Spiritual Life Series		
.... असम्भव क्रान्ति	ओशो	60.00
.... सत्य की खोज	ओशो	60.00
.... अन्तर्यात्रा	ओशो	60.00
.... चेतना का सूर्य	ओशो	60.00
.... आनन्द गंगा	ओशो	60.00
.... क्या ईश्वर मर गया है?	ओशो	60.00
.... क्रान्ति बीज	ओशो	60.00
.... शून्य की नाव	ओशो	60.00
.... जीवन ही है प्रभु	ओशो	60.00
.... महावीर या महाविनाश	ओशो	60.00
.... The Divine Song Shreemad Bhagwat Geeta	R.S. Gupta	100.00
.... योग दर्शन	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... श्री शिव पुराण की महिमा	पं० नवीन सेमवाल	50.00
.... चाणक्य नीति	आचार्य चाणक्य	50.00
.... श्रीमद्भागवत पुराण	प. नवीन सेमवाल	50.00
.... अनमोल सूक्तियां	पराग पुष्प	50.00
.... अमृतवाणी	पराग पुष्प	50.00
.... प्रेरक प्रसंग	पराग पुष्प	50.00
.... ज्ञान का सागर	पराग पुष्प	50.00
.... Non-Violence and its Philosophy*	Ravindra Kumar	50.00
Dynamic Personality Development Series		
.... प्रभावशाली व्यक्तित्व	पुष्पेन्द्र कुमार	100.00
.... बदलिये किस्मत *	पुष्पेन्द्र कुमार	60.00
.... How to Impress Others*	Pushpendra Kumar	125.00

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu. Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Dynamic's Precious Series For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Religious Series		
.... मनु स्मृति*	महर्षि मनु	180.00
.... छान्दोग्य उपनिषद्*	सत्यार्थ सूत्र	60.00
.... वेदान्त दर्शन*	सत्यार्थ सूत्र	60.00
.... सांख्य दर्शन*	सत्यार्थ सूत्र	60.00
.... न्याय दर्शन*	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... नारद स्मृति*	रामचन्द्र वर्मा	90.00
.... याज्ञवल्क्य स्मृति*	रामचन्द्र वर्मा	100.00
.... पाराशर स्मृति*	रामचन्द्र वर्मा	50.00
.... योग वासिष्ठ*	रामचन्द्र वर्मा	100.00
.... बृहत कर्म काण्ड रत्नाकर*	राजबली पाण्डेय	100.00
Dynamic Personality Series		
.... सरदार पटेल : व्यक्तित्व के अनछुए पहलू*	डा. रवीन्द्र कुमार	50.00
Dynamic Sports Series		
.... क्रिकेट वर्ल्ड कप*	यशपाल सिंह	50.00
.... खेलों के नियम*	गंगेश गुंजन	50.00
Dynamic Cookery Series		
.... स्वादिष्ट सूप-सलाद	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वादिष्ट व्यंजन	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वादिष्ट दालें एवं सब्जियां	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वीट डिश एवं पेय पदार्थ	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वादिष्ट स्नैक्स*	अंजू गर्ग	50.00

Jagannath Bhattarai Collection, Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

DYNAMIC

Dynamic's Precious Series For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Life Style Series		
.... कामकाजी महिलाएं	डा० रेखा अरोड़ा	50.00
.... The way of living	J.N. Kapur	50.00
.... हमारे नैतिक मूल्य	जे०एन० कपूर	50.00
.... Anxiety-A Journey from Upanishads	Dr. Amit Verma	50.00
.... Psychological Solutions for Everyday Problems	Dr. Prakash Veereshwar	70.00
.... घर परिवार सुखी कैसे बनाएँ*	डा. महेन्द्र मित्तल	70.00
.... सुखमय दाम्पत्य जीवन*	डा. मोनिका जैन	60.00
.... इंटीरियर डेकोरेशन*	एस. के. रस्तौगी	150.00
.... Successful living*	B. N. Pathak	100.00
.... शुभ विवाह*	डा. मोनिका जैन	80.00
Dynamic Health Care Series		
.... बेबी केयर	प्रतिभा आर्य	50.00
.... लेडीज ब्यूटी केयर	प्रतिभा आर्य	50.00
.... हेयर केयर	डॉ० मोनिका जैन	50.00
.... लेडीज हैल्थ केयर	डॉ० मोनिका जैन	70.00
.... आज की आम बीमारियां	डॉ० मोनिका जैन	80.00
.... चाइल्ड केयर*	ज्योति आर्य	50.00
.... स्वस्थ रहिये*	डा. मोनिका जैन	50.00
.... स्किन केयर*	प्रतिभा आर्य	60.00
Dynamic Management Series		
.... Great Presentation*	Sanjeev Shukla	100.00
.... Aim, Act and Achieve*	Sunil Ranjan	100.00
Dynamic Self Improvement Series		
.... डायनेमिक मैमोरी पॉवर	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Dynamic's Precious Series
For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Career Series		
.... कैरियर के नये आयाम	पुष्पेन्द्र कुमार	70.00
.... कैरियर के हजार सवाल	पुष्पेन्द्र कुमार	70.00
.... विदेशों में कैरियर के अवसर	पुष्पेन्द्र कुमार	60.00
.... युवतियों के लिए स्मार्ट कैरियर्स*	डा. मोनिका जैन	60.00
.... Career Excellence*	Col Aditya Parida	100.00
.... Career - A Turning Point*	Pushpendra Kumar	70.00
.... Interview (A Meeting of Two Minds)*	A. K. Gandhi	100.00
Dynamic Pleasure Series		
.... सर्वश्रेष्ठ नज़्में	पराग पुष्प	50.00
.... सर्वश्रेष्ठ गज़लें	पराग पुष्प	50.00
.... सर्वश्रेष्ठ शेर	पराग पुष्प	50.00
.... शेर-ओ-शायरी	पराग पुष्प	50.00
.... हास्यमेव जयते	पराग पुष्प	50.00
.... पॉपुलर कलाम*	पॉपुलर मेरठी	70.00
.... पहली बारिश*	डॉ. नवाज़ देवबन्दी	100.00
.... जीवन सार*	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... The Essence of Life*	Pushpendra Kumar	50.00
Dynamic Literature Series		
.... कौटिल्य अर्थ शास्त्र*	आचार्य कौटिल्य	225.00
.... घर-बाहर*	रवीन्द्र नाथ टैगोर	60.00
.... नौका डूबी*	रवीन्द्र नाथ टैगोर	60.00
.... आँख की किरकिरी*	रवीन्द्र नाथ टैगार	60.00

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Dynamic's Precious Series For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Tourism Series		
.... भारत की सैर	पुष्पेन्द्र कुमार	100.00
Dynamic Astrology Series		
.... मुखाकृति विज्ञान	पं० नवीन सेमवाल	50.00
.... ज्योतिष ज्ञान	डॉ० नरेश त्यागी	70.00
.... अंक ज्योतिष	आचार्य वादरायण	70.00
.... हस्त रेखा शास्त्र	पं. नवीन सेमवाल	150.00
.... हस्त रेखाओं के गोपनीय रहस्य	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... हस्त रेखा शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन*	विलियम जी. बेनहम्	180.00
.... हस्त रेखा विज्ञान: एक अध्ययन*	कामटे सी.डी. सेप्ट जर्मे	150.00
.... Numerology*	Acharya Vaadrayan	70.00
.... Geo-Energy*	Dr. V. K. Saxena	200.00
.... Feng-Shui*	Dr. V. K. Saxena	200.00
Dynamic Informative Series		
.... बच्चों के सर्वश्रेष्ठ नाम	डॉ० मोनिका जैन	50.00
.... हमारे प्रिय जीव-जन्तु	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... The Second World War	A.K. Gandhi	50.00
.... Some Great Mathematicians of the 19th Century	J.N. Kapur	150.00
.... भारत के क्रांतिवीर	डॉ० ताराचन्द पाल बेकल	50.00
.... रंग और आप	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... आश्चर्यजनक जानकारियां	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... मेरा संघर्ष*	हिटलर की आत्म कथा	100.00
.... भारतीय संस्कृति के पाँच हजार वर्ष*	डा. रवीन्द्र कुमार	50.00

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

DYNAMIC

Dynamic's Precious Series For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Children Choice Series		
.... सर्वश्रेष्ठ बालगीत	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... बच्चों की सर्वश्रेष्ठ कहानियां	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... Why Devils have Horns*	Folk Tales-1	30.00
.... The Mustached Man*	Folk Tales-2	30.00
.... The Magic Hubble-Bubble*	Folk Tales-3	30.00
.... The Talking Tree*	Folk Tales-4	30.00
.... Paoli Tales*	Folk Tales-5	30.00
.... Vikram and Baital*	Indian Classics-1	30.00
.... Tenali Rama*	Indian Classics-2	30.00
.... Akbar Birbal*	Indian Classics-3	30.00
.... Ramayana*	Indian Classics-4	30.00
.... Panchatantra*	Indian Classics-5	30.00
.... Little Red Riding Hood*	Fairy Tales-1	30.00
.... Cinderella*	Fairy Tales-2	30.00
.... The Emperor's New Clothes*	Fairy Tales-3	30.00
.... Snow White and the Seven Dwarfs*	Fairy Tales-4	30.00
.... Gulliver's Travels*	Fairy Tales-5	30.00
.... Horns on the King's Head *	Fancy Tales-1	30.00
.... Tree on the Shoulder*	Fancy Tales-2	30.00
.... Snake in the pit*	Fancy Tales-3	30.00
.... One-Eyed Groom*	Fancy Tales-4	30.00
.... The Lion Goes Young*	Fancy Tales-5	30.00
.... Sindbad the Sailor (First Voyage)*	Arabian Nights -1	30.00
.... Sindbad the Sailor (Second Voyage)*	Arabian Nights-2	30.00
.... Sindbad the Sailor (Third Voyage)*	Arabian Nights-3	30.00
.... Sindbad the Sailor (Fourth Voyage)*	Arabian Nights-4	30.00
.... Sindbad the Sailor (Fifth Voyage)*	Arabian Nights-5	30.00

* हमारे नवीनतम प्रकाशन

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

CC-0. Digitized by eGangotri and MIDF- Delhi

सांख्य दर्शन

कपिल मुनि का सांख्य दर्शन भारतीय आध्यात्म के महासागर में खिला वो कमल का फूल है जिसकी आभा में जीवन व जगत की जटिलताएं स्वतः विसर्जित हो जाती हैं। जीवन में आने वाले दुखों के कारण उनकी निवृत्ति तथा उनके स्वरूप इस ग्रन्थ में स्पष्ट किये गये हैं।

जीवन की जटिलताओं व शंकाओं को जीतकर अधिक सुखी, सम्पन्न व आनंदित रहने के रहस्य 'सांख्य दर्शन' में छिपे हैं।

अत्यंत सरल व बोधगम्य शैली में किया गया हिंदी भाष्य।

मूल्यः 60/-

ISBN 81-7933-071-0
9788179330715

DYNAMIC
डायनेमिक पब्लिकेशन्स (इण्डिया) लि०

Jagannath Bhattarai Collection. Nagarjun-7, Kathmandu, Nepal

This PDF you are browsing is in a series of several scanned documents containing the personal colleciton of Jagannath Bhattarai ji from Kathmandu, Nepal.

CV:

Jagannath Bhattarai
Date of Birth: 31 December 1960
Place of Birth: Kathmandu, Nepal
Address: Nagarjun (Ramkot), Kathmandu

Educational Qualifications
Bachelor of Science (B.Sc.) – Major in Biology
Master's Degree – Sociology & Anthropology
Shastri (Ongoing) – Balmiki Vidyapeeth

Professional Experience
Government School Teacher (Madhyamik Pratham Shreni)
Taught at Secondary Level (Madhyamik)
Taught at Higher Secondary Level (Uchcha Madhyamik)
Served as Head Teacher
Led academic and administrative development
Strengthened institutional performance and student outcomes

Areas of Interest
Sanskrit Vyakaran
Spiritual & Philosophical Studies
Educational Leadership

Digitization by eGangotri Trust
Funding by MIDF, New Delhi